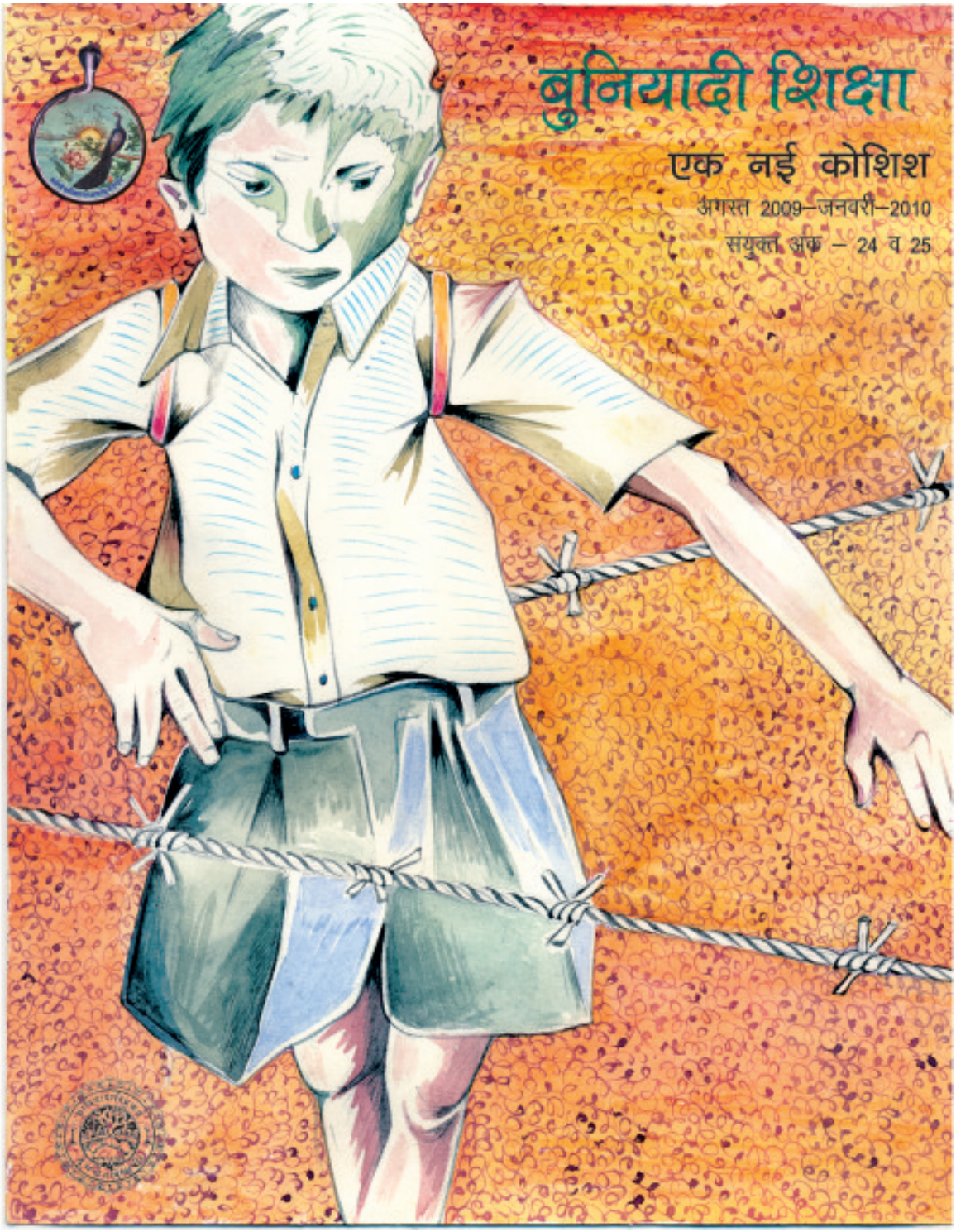
बुनियादी शिक्षा
एक नई कोशिश
अगस्त 2009–जनवरी–2010
संयुक्त अंक – 24 व 25

बुनियादी शिक्षा : एक नई कोशिश

संयुक्त अंक–24 व 25

इस अंक में

चिट्ठी पत्री		2
हर बच्चे को उद्योग सीखने का मौका		3
जीवन का पर्याय, श्रम	काचा आइलैया	8
स्कूल में शिल्प	कृष्ण कुमार	12
शिक्षासत्र	एल.के. एमहर्स्ट	21
कक्षा में किताबें	पार्वती बानोत	32
क्लास लाइब्रेरी में डिक्शनरी	शहनाज डी.के.	34
बातचीत बच्चों की	संजय कोल्पा	36
मैंने बचपन को जीया	सरन काला	37
कुदरत की गोद में स्कूल के पल		39
नागरिकता की शिक्षा	वि.वि. सिंह	42
जुगाड़ की डिग्री	पंकपाल शर्मा	46
थ्री इडियटस् के बहाने	रजत शर्मा	48
फतूर के बिना	पल्लव	50
भाषा की कहानी	वरुण ग्रोवर	52
विज्ञान शिक्षण परम्परा, आदर्श और यथार्थ	सी.एन. सुब्रह्मण्यम	56
प्रारम्भिक शिक्षा, सत्ता एवं समाज	ए.के. पालीवाल	61
नई तालीम में पुस्तकालय	लाइब्रेरी साइन्स	65
स्कूल में सफलता के मार्ग में दस बाधाएं	हैरी पैसो	72
वो एक लड़की	संगम	78
दिशा बताइए	हरिशंकर परसाई	82

परामर्श
हृदय कांत दीवान
सुदर्शन आयंगार

संपादक
के. आर. शर्मा

सलाहकार
एम.पी. शर्मा
भागचंद्र कुमावत
गोविन्द रावल
भरत जोशी
सुधा भण्डारी

संपादन सहयोग
कुमार अनुपम

चित्रांकन
प्रशांत सोनी

कम्प्यूटर सेटिंग
इसरार अहमद

टाईपिंग सहयोग
भवानी शंकर

संपादकीय पता
विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र
फतेहपुरा, मोहनसिंह मेहता मार्ग
उदयपुर (राज.) 313 004
फोन : (0294) 2451497

मुद्रक : संजय प्रिन्टर्स, उदयपुर

वार्षिक चंदा– व्यक्तिगत 120 रुपए, संस्थागत 240 रुपए। तीन साल का व्यक्तिगत 320 रुपए एवं संस्थागत 650 रुपए।
बैंक / ड्राफ्ट – विद्या भवन सोसायटी के नाम से बनवाएं।

सौजन्य : आईसीआईसीआई सेंटर फॉर एडिमेंट्री एजुकेशन एवं राष्ट्रीय ग्रामीण संस्थान परिषद् (NCRI) हैदराबाद

विज्ञान शिक्षण पर अन्तर्राष्ट्रीय सेमीनार

का

दस्तावेज़

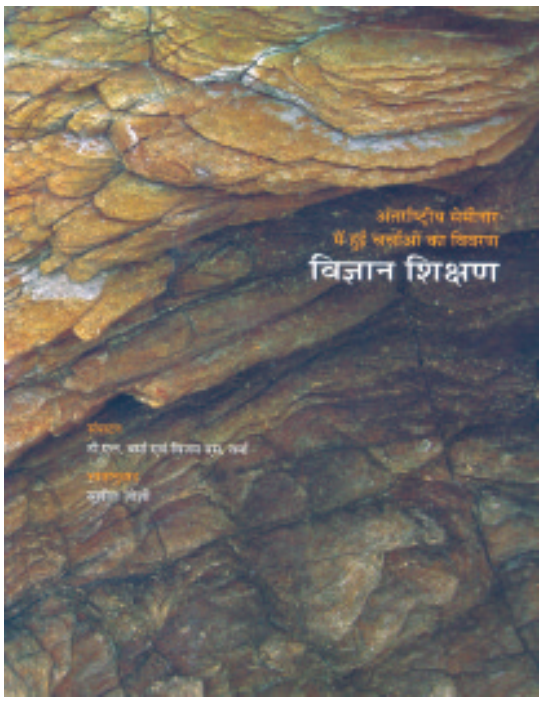

मूल्य : तीन सौ रुपए

(अब हिन्दी में भी उपलब्ध)

संपर्क करें

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र
फतेहपुरा, मोहन सिंह मेहता मार्ग
उदयपुर (राज.) 313 004
फोन : (0294) 2451497
Email : vbsudr@yahoo.com

चिट्ठी–पत्री

बुनियादी शिक्षा का संयुक्त अंक 22–23 उपलब्ध कराने के लिए बहुत बहुत–बहुत धन्यवाद। सम्पूर्ण अंक में गांधी और हिन्द स्वराज्य से संबंधित लेखों को छोड़कर समस्त पत्रिका को एक ही बैठक में पूरा पढ़ लिया। पत्रिका बहुत सुन्दर बनती जा रही है। बैक कवर की कविता गज़ब की है। इस प्रयास के लिए एक बार पुनः साधुवाद।

के.आर. शर्मा का यात्रा वृत्तांत 'नापसंद' बहुत मज़ेदार है तथा समाज, विद्यालय तथा परिवार में गहरी पैठ गई सामंती मानसिकता पर गहराई से सोचने के लिए विवश करता है। 'नापसंद' वृत्तांत की नन्ही लड़की द्वारा अपनी मम्मी को नापसंद घोषित कर देने से उसके पूरे परिवार को लेखक ने भी अपराधी मान लिया है। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि बच्ची ने हिम्मत से यह बात कही, यह हिम्मत भी उसे इसी परिवार से मिली है। मुझे लगता है हमें परिवार, समाज, विद्यालय या किसी के विश्लेषण में सकरात्मक पहलुओं पर भी उतना ही ध्यान देना चाहिए ताकि लेख पढ़कर उस बच्ची की मां (या वैसी मां) भी अपने आपको कटघरे में खड़ा करने की बजाय ग़लती सुधारने की तरफ़ प्रवृत्त हो।

ए.के. पालीवाल का लेख 'बालकों की संवेदनशीलता के प्रति संवेदनशीलता' भी बेहतर है। 'प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम और सीखना' हृदय कांत दीवान की अपनी शैली में लिखा, लेख गागर में सागर के समान है। ऐसे लेखों को शिक्षा कर्म से जुड़े सभी लोगों को मिलकर ज़रूर पढ़ना चाहिए तथा खुलकर विचार–विमर्श करना चाहिए। शिक्षण प्रशिक्षण कर रहे विद्यार्थियों के साथ तो यह प्रयोग अवश्य ही किया जा सके तो लाभ होगा। मैं अपने आपको इस लेख के प्रतिस्थापित शिक्षक की भूमिका में लिखित कुछ पंक्तियों को जो शिक्षक के सरोकारों से संबंधित हैं। उद्धृत करने से नहीं रोक पा रहा हूं। ''इसे एक दृढ़ विश्वास के रूप में माना गया है कि शिक्षक की भूमिका असाधारण है। सामग्री व संभव उपयुक्त गतिविधियों के प्रकार की जानकारी से ज़्यादा उसको करवाने की इच्छा महत्त्वपूर्ण है और क्यों करवानी चाहिए? इसकी समझ महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा क्यों, किसकी शिक्षा, कैसी शिक्षा आदि की भी बात है, लेकिन इस सबमें शिक्षक की भागीदारी हो, सक्रियता हो।'' पर मेरे मन में यह सवाल उठ रहा है कि समाज के प्रति ऐसे प्रतिबद्ध व समर्पित अध्यापक कैसे पैदा होंगे? शायद लेख की अंतिम लाइन में इसका जवाब है।'' आज के संदर्भ में प्रशिक्षण का जो अर्थ है उसमें इस कार्यक्रम के शिक्षक की तैयारी के प्रयासों को शिक्षक प्रशिक्षण नहीं कहा जा सकता है, कोई अलग नाम देना होगा।'' सवाल फिर भी अपनी जगह खड़ा रहता है। सवाल–दर–सवाल खड़े होते रहते हैं। दिमाग़ को झकझोरनेवाले लेख पढ़कर बहुत अच्छा लगा।

डी.एस. पालीवाल
उदयपुर

हर बच्चे को उद्योग सीखने का मौका

पिछले 2 वर्षों से विद्या भवन बुनियादी स्कूल रामगिरि में बच्चों के लिए उद्योगों में रोटेशन सिस्टम शुरु किया हैं। अर्थात् हर बच्चे को हर उद्योग सीखने का अवसर दे रहे हैं। कक्षा पांचवीं से आठवीं तक के बच्चों के लिए रोटेशन सिस्टम है। कक्षा नवीं व दसवीं में बच्चों को 2 वर्ष तक एक ही उद्योग का काम सिखाया जाता है। इस स्तर पर बच्चे ख़ुद अपनी पसंद से अपने उद्योग का चयन करते हैं और उसमें महारत हासिल करते हैं प्रस्तुत है एक रपट–

पिछले 2 वर्षों से हमने विद्या भवन बुनियादी स्कूल रामगिरि में बच्चों के लिए उद्योगों में रोटेशन सिस्टम शुरु किया हैं। अर्थात् हर बच्चे को हर उद्योग सीखने का अवसर दे रहे हैं। कक्षा पांचवीं से आठवीं तक के बच्चों के लिए रोटेशन सिस्टम है। कक्षा नवीं व दसवीं में बच्चों को 2 वर्ष तक एक ही उद्योग का काम सिखाया जाता है। इस स्तर पर बच्चे ख़ुद अपनी पसंद से अपने उद्योग का चयन करते हैं और उसमें महारत हासिल करते हैं। रोटेशन सिस्टम में एक ही लाभ हैं कि सभी बच्चों को सभी उद्योग में काम करने का समान समय व मौक़ा मिले।

उद्योग में बच्चे जो भी कार्य करते हैं वे उसे लिखते हैं। बच्चों को लिखने में बहुत मज़ा आता है। कलर पेन से अपनी–अपनी फाइल को औरों से अधिक सुन्दर बनाते हैं। बच्चे आते हैं, अपना काम करते हैं व फाइलों को व्यवस्थित अपनी जगह पर रखकर चले जाते है। बच्चे गतिविधि के आवश्यक उपकरणों

★ विद्या भवन बुनियादी विद्यालय, रामगिरि के उद्योग शिक्षकों द्वारा लिखी गई रपट के आधार पर।

की जानकारी व विद्युत् चीज़ों का रख रखाव, प्रयोगशाला की सफ़ाई, बर्तनों की सफाई आदि सभी बातों से अवगत होते हैं। बच्चों को उद्योगों में काम करने में बड़ा ही मज़ा आता है। लड़कों को खाद्य प्रसंस्करण में जाना अच्छा लगता है व लड़के बड़े मज़े से बर्तन साफ़ करते है, झाड़ू लगाते है, फ्रिज में से कुछ लाने को कहते हैं तो एक की जगह चार बच्चे दौड़कर जाते हैं। क्योंकि उनकी फ्रिज को देखने की, छूने कि जिज्ञासा रहती है। जैसे आंवले का अचार बनाना है तो बच्चे आंवले को तोलने के लिए फटाफट तराजू ले आते हैं और

खाद्य प्रसंस्करण

खाद्य प्रसंस्करण में जैम, मुरब्बा, शर्बत या अचार बनाते वक़्त जो फल सब्ज़ी काम में आती है उसके बारे में चर्चा करने का बच्चों को अवसर मिलता है। फलों और सब्जियों का अंग्रेज़ी में नाम व घर पर उसे अपनी स्थानीय भाषा में क्या बोलते हैं? पर बातीचीत की जाती है। मिर्च और आंवले में कौन से विटामिन पाए जाते हैं? इनमें कौन–कौन से तत्त्व पाये जाते है? आंवला हमारे लिए क्यों उपयोगी है? पर चर्चा की जाती है। इनसे संबंधित कोई प्रश्न पूछते हैं तो बच्चे लाईब्रेरी में जाकर किताबों में ढूंढ़ते

तोलते हैं। मसाले तो हमें ग्राम में चाहिए होते हैं। तो बच्चों को सही माप तौल भी सिखाया जाता है। नमक किस अनुपात में डालना है? बनी हुई चीज़ का मूल्य निकालते हैं तो लाभ, हानि, अनुपात, जोड़, बाक़ी सभी चीज़ सीखते जाते हैं। इस प्रकार सभी उद्योग में काम करते हैं। इससे गणित से समवाय करते हैं।

हैं। ऐसे सभी सवालों के ज़रिए बच्चों को विज्ञान से जोड़ा जाता हैं।

बच्चों को हम खाद्य–प्रसंस्करण में अचार, मुरब्बा, जैम, जैली, शर्बत के अलावा भी उनकी पसंद की चीज़े भी सिखाते हैं। जैसे आलू, गाजर, लौकी, बेसन का हलवा, बेसन के लड्डू, ब्रेड रोल, समोसा,

अंकुरित मूंग की चाट, कच्ची खाई जानेवाली सब्जियां, सूजी के पापड़, कचौरी, सैण्डविच, गुलाब जामुन, जलेबी, इडली, केक, सुप इन सभी चीज़ों को बनाते वक़्त जो सामग्री लगती है उन्हें बच्चे ख़ुद ही अपने घर से लाते हैं व सीखकर अपने घर पर भी बनाते हैं। इस प्रकार के कार्य करने में बच्चों को मज़ा आता है वह देखने का होता है। बच्चे जो भी कार्य करते हैं उसके बाद ख़ुद ही बर्तन साफ़ करते हैं, झाड़ू लगाते है, बर्तनों को जगह पर रखकर जाते हैं। प्रयोगशाला की सफ़ाई हम हफ़्ते में एक बार करते हैं। बच्चे समूह में काम करते हैं।

समूह में काम करते वक़्त बच्चों में सहयोग तथा ज़िम्मेदारी की भावना का विकास होता है। इस प्रकार के कार्य करने से बच्चों की क्षमताओं का विकास होता है। वे जिज्ञासु प्रवृत्ति के बनते हैं। बच्चे किन्हीं बातों की जानकारी की खोज करते हैं या पूछे गए प्रश्नों के उत्तर का समाधान ढूंढते है तो उनमें आत्मविश्वास का विकास होता है। इन कार्यों को पुस्तकालय से भी जोड़ा जाता है। वे जो भी कार्य करते हैं और उस दौरान जो भी जानकारी की ज़रूरत होती है उसको किताबों में ढूंढ़ा जाता है।

सिलाई

कक्षा पांचवीं के बच्चों को सिलाई मशीन के बारे में बताया जाता है व सिलाई मशीन के विभिन्न भागों के नाम व उनके बारे में लिखवाया जाता है। अण्डर वियर ड्राफ्ट को बनवाया जाता है।

कक्षा छठी में सिलाई कला में काम आनेवाले प्रमुख औज़ारों की जानकारी प्राप्त की जाती है। उनके बारे में बच्चे ख़ुद ही लिखते हैं। समीज का ड्राफ्ट बनवाया जाता है। कटिंग व सिलाई की जाती है।

कक्षा सातवीं में कपड़े की बनावट व कपड़े के अर्ज (लंबाई–चौड़ाई) के बारे में बच्चे सीखते हैं। अंब्रेला फ्रॉक का ड्राफ्ट बनवाया जाता है और सिलना सिखाया जाता है। कक्षा आठवीं में बच्चे नाप की जानकारी व विभिन्न प्रकार से नाप लेने की विधि सीखते हैं। साथ ही पेटीकोट का ड्राफ्ट बनाना व कटिंग करना सीखते हैं और पेटीकोट सिलकर तैयार करते हैं। कक्षा नवीं में कपड़ों का चयन किन–किन आधार पर किया जाता है इसके बारे में

सीखते हैं। बुशर्ट का ड्राफ्ट बनाकर व बुशर्ट की सिखाई जाती हैं। कक्षा दसवीं में विभिन्न प्रकार के रफू व पैबन्द सीखते हैं। कुर्ते का ड्राट बनाया गया व उसकी कटिंग सिखाई गयी व कुर्ते की सिलाई की गई।

सुथारी

सुथारी एक ऐसा उद्योग है जिनके माध्यम से गणित की बहुत सी अवधारणाओं को सीखने को मिलता है। लकड़ी की लंबाई, चौड़ाई का मापना, क्षेत्रफल निकालना बच्चे सीखते हैं।

सुथारी के अंतर्गत बच्चे कक्षा पांचवी में धोवना, अगरबती स्टैंड, गुल्लक आदि बनाते हैं। कक्षा छठी और सातवीं के बच्चे बेट, लकड़ी के खिलौने, छाछ बिनोली, पाटिया, की स्टैंड बनाते हैं। कक्षा आठवीं, नंवी और दसवीं के बच्चे कुर्सी, चौकी, बुकसेल,

टेबल बनाते हैं और स्कूल के फर्नीचर की मरम्मत करते हैं। कक्षा पांचवीं के विद्यार्थियों द्वारा अगरबत्ती स्टैण्ड, गुल्लक बना दिया है। धोवना बना रहे है। कक्षा छठी में बेट बना लिया, अगरबत्ती स्टैण्ड बना लिया है। पटिया बना रहे हैं।

कक्षा नवीं में किताबें रखने की शेल्फ बनाया।

विद्युत् उपकरण मरम्मत एवं रखरखाव

विद्युत् गतिविधि कार्यशाला में कक्षा सातवीं से दसवीं तक के बच्चे आते हैं।

इस गतिविधि में कक्षा सातवीं के बच्चे विद्युत् से सम्बन्धित सामान्य सावधानियां, फ्यूज़ बांधना, इलेक्ट्रिक शॉक, विद्युत कार्य में काम आने वाले औज़ार, विद्युत् एसेसरिज आदि के बारे में प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। कक्षा आठवीं के बच्चें प्रेस, स्विच बोर्ड, वायरिंग, फ्यूज बांधना, टेस्टिंग आदि स्वयं करके देखते है। कक्षा नवीं के बच्चे हाउस वायरिंग में स्विच बोर्ड लगाना और वायरिंग करना सिखते हैं। कक्षा दसवीं के बच्चे घरेलू विद्युत उपकरणों में प्रेस, हीटर, केटली, ईमरशन रॉड, टोस्टर, रूम हीटर, लैम्प, टेस्टिंग लैम्प आदि की मरम्मत एवं रखरखाव आदि का काम सीखते हैं। बच्चों को काम करने में बहुत मज़ा आता है। बच्चे कुछ करके देखने में रुचि लेते है।

हस्तनिर्मित काग़ज़ इकाई

इस उद्योग में कक्षा सातवीं, नवीं व दसवीं के विद्यार्थी काम करते हैं। इन कक्षाओं के विद्यार्थी काग़ज़ का इतिहास, काग़ज़ की मांग, कागज का प्रकार, एक अच्छे क़िस्म के कागज गुण, हाथ से काग़ज़ बनाने की विधि, काग़ज़ उद्योग की स्थापना करना, हस्त निर्मित काग़ज़ के विभिन्न उपयोग तथा हाथ काग़ज़ के विभिन्न उत्पाद बनाना सीखते हैं।

व्यावहारिक शिक्षण के तहत विद्यार्थी हस्त निर्मित कागज़ की शीट तैयार करने के साथ ही इन कागज़ की शीटों से उप उत्पाद के रूप में विभिन्न प्रकार के लिफाफे, कैरी बेग, पेन स्टेण्ड, बुक बाईन्डिंग, गिफ्ट कार्ड तथा गिफ्ट बॉक्स बनाना सीखते हैं। इसी तरह स्लीप पेड, लेटर पैड, डायरी, प्लानर बनाना, फोटोफ्रेम बनाना, तैयार प्रोडक्ट पर डिजाईनिंग व प्रिन्टिंग करना सीखते हैं।

जीवन का पर्याय, श्रम

★ कांचा आइलैया

हमारे समाज में श्रम के प्रति सम्मान की भावना का अभाव है क्योंकि जाति व्यवस्था के ढांचे में श्रमाधारित किसी भी गतिविधि को हेय मान लिया जाता है। यह भारतीय शिक्षा व्यवस्था में भी झलकता है। जैसा कि डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने कहा था, जाति व्यवस्था श्रम का बंटवारा ही नहीं है, बल्कि श्रमिकों का भी बंटवारा है। जातियों के ऊंच–नीच के क्रम में शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा दिखाई देती है। दुर्भाग्यवश, यह सोच आधुनिक स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम को भी निर्धारित करती चली जा रही है।

जैसे–जैसे भारतीय बच्चे उच्चतर शिक्षा की ओर बढ़ते हैं वैसे–वैसे उनमें बुनियादी श्रमाधारित उत्पादन प्रक्रियाओं के प्रति अरुचि भी बढ़ती जाती है। स्कूल जाने वाले हर बच्चे का रोज़मर्रा के घरेलू कामों (घर का झाड़ू–पोंछा, बरतन साफ करना, कचरा ठिकाने लगाना और कपड़े धोना) के प्रति नकारात्मक रवैया होता है। ऐसा माना जाता है कि यह सब मां का काम है, या, यदि परिवार समर्थ है तो घरेलू नौकर का, जो अधिकांशतः निचली जाति की स्त्री होती है। हमारे समाज में घरेलू काम करने वाली किसी स्त्री का दर्जा भी वही होता है जो ''नीची जाति'' के मज़दूर (कुम्हार, नाई, चर्मकार या किसान) का होता है। ऐसा काम न तो गरिमा देता है न ही उचित वेतन। इस प्रकार, श्रम के प्रति अनादर की भावना जाति आधारित भी है और लिंग आधारित भी। ऐसे विचार घर और स्कूलों में हमारे मानस में बिठाए जाने के साथ–साथ शताब्दियों से उत्तराधिकार में मिले सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों के माध्यम से भी मज़बूत होते हैं।

यदि हमें इस स्थिति को सुधारना है तो श्रम के प्रति आदर की भावना जगाने के लिए स्कूली पाठ्यक्रम में और घर पर ध्यान देना होगा। कदम है ऐसी पाठ्य सामग्री विकसित करना जिसे किशोर छात्र (सातवीं से दसवीं कक्षा), शिक्षक और माता–पिता प्रयोग कर सकें। यह किताब ऐसा ही एक प्रयास है। इस किताब में भारत के उत्पादक समुदायों द्वारा विकसित बुनियादी विज्ञान के ऐतिहासिक विकास और श्रम की गरिमा के सम्बन्ध की चर्चा की गई है। इन समुदायों को जातियों का रूप दे दिया गया था और उनके श्रम को हेय और अशोभनीय माना जाने लगा था।

इस किताब के ग्यारह में से आठ अध्यायों में आदिवासियों, पशु–पालकों, चर्मकारों, कुम्हारों, किसानों, बुनकरों, धोबियों और नाइयों के विज्ञान, उनकी कलाओं और उनके हुनर की चर्चा है। प्रत्येक विज्ञान के विकास की ऐतिहासिक रूप से पड़ताल की गई है और उन्हें व्यापक सन्दर्भ में रखा गया है। तीन अध्याय जीवन, लिंग और धर्म के सन्दर्भ में श्रम की गरिमा के सामान्य सिद्धान्त का खाका खींचते हैं। प्रस्तुत है एकलव्य द्वारा प्रकाशित कांचा आइलैया की पुस्तक हमारे समय में श्रम की गरिमा का एक अंश :

★ एकलव्य द्वारा प्रकाशित, हमारे समय में श्रम की गरिमा से साभार।

हर इन्सान को जीने के लिए काम करना पड़ता है। काम करने की प्रक्रिया को श्रम कहते हैं। श्रम का बंटवारा इस तरह किया जाता है कि कुछ लोगों को कुछ ख़ास बुनियादी काम करने पड़ते हैं जिनके बग़ैर अन्य लोग जीवित नहीं रह सकते। कुछ अन्य लोग बुनियादी श्रम प्रक्रियाओं को आगे बढ़ानेवाले दूसरे पूरक काम करते हैं।

प्राचीन काल में जानवरों का शिकार करना, फल इकट्ठा करना, कन्द–मूल खोदना और मछली पकड़ना जीवन–निर्वाह के लिए आवश्यक बुनियादी काम थे। इन गतिविधियों द्वारा प्रकृति से आहार उत्पन्न किया जाता था। इस आदिम अवस्था के बाद मनुष्यों ने अपना जीवन–स्तर सुधारने के लिए प्रकृति पर नियंत्रण करने की कोशिश की। भूमि की जुताई और आहार का व्यवस्थित उत्पादन इस दिशा में पहले कदम थे। भूमि की जुताई के बाद बुनियादी विज्ञान और तकनीक का विकास अनिवार्य हो गया ताकि पूर्ण रूप से खेती की जा सके। चर्मकारों, कुम्हारों, लुहारों, बढ़इयों आदि ने सबसे शुरुआती विज्ञान और तकनीक को जन्म दिया। इनके द्वारा

श्रम ने हज़ारों वर्षों के दौरान मनुष्य के जीवन स्तर को बेहतर बनाया है।

विकसित किए गए औज़ार और तकनीकी उपकरण भूमि को खेती लायक बनाने के लिए और अनाज, सब्ज़ियों और फलों को लगातार नियांत्रित ढंग से पैदा करने के लिए अति आवश्यक थे।

कृषि के पूर्ण विकसित, श्रम–प्रधान गतिविधि बनने से पहले ही मनुष्यों ने मवेशियों को पालतू बना लिया था। कृषि के विकास से व्यवस्थित जीवन की शुरुआत हुई और इसके साथ ही बकरी, भेड़ तथा मुर्गी पालन का भी विकास हुआ। मवेशियों को पालना–पशुपालन विज्ञान भी अत्यधिक मेहनत का काम था। इसके बाद कपड़े बुनने और उनको धोने व साफ़ करने का विज्ञान विकसित हुआ। खेती, पशुपालन तथा कुम्हारी व अन्य शिल्प कलाओं के विकास से पहले मनुष्य की उम्र बहुत कम हुआ करती थी। 5000 ई.पू. में महिलाओं की सम्भावित आयु केवल 30 वर्ष और पुरुषों की 35 वर्ष थी। विभिन्न श्रमिक प्रक्रियाओं के विकास के चलते नए विज्ञान और तकनीकी कामों की खोज हुई। मानव जीवन की उन्नति की इन प्रक्रियाओं में दुनियाभर के समाजों की महिलाओं और पुरुषों ने योगदान दिया। भारत में ऐसे मेहनत के कामों में लगे समुदायों को ''नीची'' जातियां माना गया।

श्रम का व्यवसायों में विकास

ये उत्पादक काम विभिन्न समूहों में बांटे गए थे। हर सामाजिक समूह ने किसी न किसी काम में विशेषज्ञता हासिल की। इस बीच धर्मों का विकास हुआ। प्रारम्भिक धर्म वास्तव में ऐसी विशेष शारीरिक, भौतिक और प्राकृतिक घटनाओं का समाधान पाने के उपाय थे जिन्हें सहजता से समझने या समझाने में मानव

मस्तिष्क असमर्थ था। कुछ धर्मों ने श्रमिक जनता को संगठित किया। समाज में कुछ लोग पुरोहित बने, कुछ लेखक, बुनकर, कुम्हार, कृषक, गायक और चित्रकार बने। कई समाजों में यदि एक पीढ़ी किसी व्यवसाय विशेष से जुड़ी रही तो अगली पीढ़ी ने कोई अन्य व्यवसाय चुना। कोई महिला कुम्हारिन हो सकती थी पर उसका बेटा किसान या पुरोहित बन सकता था। अधिकांश समाजों में लोगों के बीच व्यवसाय बदलते रहते थे। चर्मकार कथाकार बने ओर कथाकार चर्मकार बने। कुम्हार पुरोहित बने और पुरोहितों ने बरतन का काम किया। नाई प्रशासक बने और प्रशासकों ने नाई का काम किया, इत्यादि।

यदि हम मध्यकाल (बारहवीं व तेरहवीं सदी) के आस–पास यूरोप में विकसित हुए पारिवारिक नामों और उपनामों को देखें तो पाएंगे कि कई लोगों के पारिवारिक नाम उस व्यवसाय पर आधारित हैं जिसके साथ वे या उनके पूर्वज किसी समय जुड़ रहे– पॉटर, बेकर, सॉयर, स्मिथ, युलर, टेलर, बाब्रर, कारपेन्टर, आर्चर, फिशर इत्यादि। तथापि यह ज़रूरी नहीं है कि इन उपनामों को लगानेवाले अधिकांश लोग आज उनके मूल व्यवसायों से जुड़े हों। पीढ़ियां बीतने के साथ–साथ इन समाजों में लोगों ने बार–बार अपने व्यवसाय बदले। परिवारों के इधर से उधर होने और पेशा बदलने से व्यावसायिक ज्ञान का आदन–प्रदान हुआ और वह सारे श्रमजीवी समुदायों में फैला। इसी वजह से दुनिया के अधिकांश धर्मों द्वारा सभी प्रकार के कामों का आदर किया जाने लगा। 'कर्म ही पूजा है' के सिद्धान्त ने कई धर्मों को बल प्रदान किया।

जाति की समस्या

परन्तु भारत में लगभग 3000 साल पहले कुछ गैर–श्रमिक समूहों ने जाति व्यवस्था को ईजाद किया। उस काल के पुरोहितों और प्रशासकों ने श्रम के तत्कालीन बंटवारों का सहारा लेकर घोषणा की कि जीवन में हर व्यक्ति का पूर्वनियम, पूर्वविधित स्थान होता है। मनु और कौटिल्य जैसे लेखकों ने ऐसे विशेषज्ञ समूहों को जातियों में विभाजित कर दिया। अन्य समाजों के विपरीत भारत के अधिकांश हिस्सों में जन्म से तय होता था कि कोई किस प्रकार का व्यवसाय या श्रम कर सकता था। ख़ुद को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहनेवाली जातियों में जन्मे लोगों के अलावा अन्य लोगों को सदियों तक विद्यालय जाने या किताबें पढ़ने–लिखने की अनुमति नहीं थी। इस काल के पुरोहितों और लेखकों ने उत्पादक श्रम से जुड़े हर काम के बारे में नकारात्मक विचार फैलाए। चर्मकार्य, सार्वजनिक जगहों की सफ़ाई करना, बरतन बनाना, और यहां तक कि खेती को भी बुरा काम माना गया। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक इन कामों से जुड़े लोगों को 'नीची'' जातियां कहा गया। उन्हें शूद्र बताकर जाति व्यवस्था में सबसे नीचे और कभी–कभी तो चाण्डाल कहकर जाति व्यवस्था के बाहर रखा गया। अनुत्पादक जातियों, जैसे पुरोहितों, योद्धाओं, प्रशासकों और व्यापारियों ने कोई कठोर शारीरिक काम नहीं किया। न ही उन्होंने कोई भौतिक विज्ञान और तकनीक ईजाद की। इसके बावजूद उन्होंने श्रमिक और तकनीकी हुनरवाली जातियों की मेहनत के फल भोगे।

जाति व्यवस्था को बढ़ावा देनेवालों ने एक दर्शन गढ़ा, जिसके अनुसार शिक्षित, बौद्धिक वर्गों का आहार उत्पादन, बरतन बनाने, चर्मकार्य, सफ़ाई के कार्यों, बढ़ईगिरी, बुनकरी इत्यादि कामों में संलग्न होना उचित नहीं था। इस तरह की समझ ने श्रम की गरिमा को नष्ट कर दिया। कालान्तर में श्रम से जुड़ी हर गतिविधि को अशोभनीय मान लिए जाने के कारण समाज के शिक्षित वर्ग इस तथ्य को भूल ही गए कि श्रम जीवन का स्रोत है। श्रमिक जातियों को पढ़ने–लिखने की अनुमति न होने के कारण भारत में विज्ञान और अधिक विकसित अवस्था तक नहीं पहुंच पाया। जहां प्राचीन मिस्र के चित्रों और अभिलेख–पत्रों में बुनकरी, कृषि, बढ़ईगिरी और लुहारी के कार्यों का सजीव और स्वाभाविक चित्रण है, वहीं भारतीय मन्दिरों

में उत्पादन कार्यों में लगे लोगों की स्वाभाविक श्रमिक गतिविधियों का चित्रण कभी नहीं किया गया। जहां खाने–पीने, नाचने और सेक्स से सम्बन्धित गतिविधियों को मन्दिरों की मूर्तिकला में स्थान दिया गया, वहीं सामान्य श्रम कार्यों को कला के लिए उपयुक्त विषय नहीं माना गया।

सभ्यताओं की प्राणशक्ति

श्रम सभ्यताओं की प्राणशक्ति है। यदि श्रम को उपेक्षित किया जाता है तो हर समाज में आलस्य का कैंसर पैदा हो जाता है। भारत में श्रमिक समुदायों को अपमानित किया जाता रहा है और जो मेहनत का काम नहीं करते उन्हें ऊंचा दर्जा मिलता रहा है। श्रम के प्रति ऐसे नकारात्मक रवैए के कारण ही मज़दूर जातियों को अछूत माना गया। यदि किसी प्रकार का श्रम ज़्यादा कठिन होता था और उससे ज़्यादा बड़ी संख्या में लोग लाभान्वित होते थे, तो उस श्रम से जुड़ी जाति को और भी अधिक अछूत बना दिया जाता था। इसलिए हम देखते हैं कि वे सभी लोग जो नालियां और सड़कें साफ करते हैं, जो गांवों में मृत पशुओं को ठिकाने लगाते हैं, जो पशुओं की देखरेख करते हैं, जो मनुष्यों की हजामत बनाते हैं और जो लोगों के कपड़े धोते हैं, वे न केवल अनादर झेलते हैं बल्कि बहुत कम मेहनताना भी पाते हैं। कभी–कभी तो उन्हें मज़दूरी दी ही नहीं जाती। ऐसी जाति व्यवस्था में महिलाओं का दर्जा पुरुषों से हीन होना स्वाभाविक था। क्योंकि महिलाओं को अतिशय घरेलू श्रम करने के लिए मज़बूर किया जाता रहा है। सामान्यतः आज भी हमारे समाज में पुरुष उन कामों में हाथ नहीं बंटाते जो महिलाओं को परम्परागत रूप से मजबूरी में करने पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, शिक्षित जातियों और समुदायों ने श्रम करनेवालों को मूर्ख कहकर उनकी निन्दा की और उन्हें इस लायक नहीं माना कि उनके साथ मनुष्यों जैसा बर्ताव किया जाए। न उन्हें शिक्षा हासिल करने लायक समझा गया, न ही लेखक, प्रबन्धक, इंजीनियर, चिकित्सक या लेखापाल बनने योग्य समझा गया। पुरोहित समुदाय ने कड़ी मेहनत करनेवालों को 'बुरे लोग' मानने के रवैए का समर्थन किया। इस प्रकार श्रमिक समुदायों को अपमानित करनेवाले इस रिवाज़ को धार्मिक वैधता मिल गई।

ईश्वर किसी काम से घृणा नहीं करता। ये तो कुछ मनुष्य होते हैं जो ऐसा करते हैं। ईश्वर की अवधारणा का श्रम की निन्दा और आराम की प्रशंसा करने जैसी बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोगों की धारणा जो भी हो, मनुष्य के जीवित रहने के लिए श्रम अनिवार्य है।

प्रार्थना की तरह श्रम कोई निजी कार्य नहीं है। श्रम तो ख़ुद को और दूसरों को नवजीवन देने की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति की मेहनत के फल अन्य कई ज़िन्दगियों का भी पोषण करते हैं यदि कोई चमड़े पर मेहनत करता है तो वह चमड़ा किसी उपयोगी वस्तु, जैसे जैकेट, रस्सी, बेल्ट, जूते, बैग, ढोल, गुड़िया इत्यादि में तब्दील हो जाता है। यदि कोई मिट्टी पर काम करता है तो वह मिट्टी किसी बरतन में रूपान्तरित की जा सकती है। यदि कोई भूमि जोतकर उसमें बीज बोता है तो वह भूमि अनाज, सब्ज़ियां और फल पैदा करती है। जब किसी व्यक्ति का श्रम उपयोगी वस्तुएं पैदा करता है तो कई लोग उनका उपभोग करते हैं। पुरोहित उनका उपभोग करता है, चिकित्सक उनका उपभोग करता है, और शिक्षक भी उनका उपभोग करता है। यदि कोई पुरोहित या शिक्षक यह कहता है कि इन वस्तुओं का उत्पादक मूर्ख है, तो यह न केवल धार्मिक पाप है बल्कि सामाजिक अपराध भी है।

बच्चों को यह ज़रूर सीखना चाहिए कि श्रम जीवन का स्रोत है। उन्हें न केवल श्रम का सम्मान करना चाहिए बल्कि बरतन बनाने, चर्मकार्य, खेती, पशु–पालन, बढ़ईगिरी, और बुनकरी के कामों में कुशलता हासिल करने की कोशिश भी करनी चाहिए। उन्हें यह ज़रूर जानना चाहिए कि कैसे इन श्रम कार्यों का विज्ञान और तकनीकी कामों के साथ जीवन्त सम्बन्ध है।

स्कूल में शिल्प

★ कृष्ण कुमार

स्कूल में हस्तशिल्प गांधीजी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी तालीम का केन्द्रीय विचार रहा है जिस पर शिक्षा प्रणाली में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। प्रो. कृष्णकुमार के इस आलेख में स्कूल में शिल्प पर गहराई से दृष्टि डाली गई है तथा इससे देश की राष्ट्रीय परम्परा व विरासत से जोड़ने का प्रयास किया है और आज के सूचना प्रौद्यौगिकी के समय शिल्प की आवश्यकता से जुड़े विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। यह आलेख सेमिनार पत्रिका के अंक 570 से साभार प्रकाशित किया जा रहा है।

भारत के ग्रामीण स्कूलों का सुपरिचित दृश्य एक पहेली सी पेश करता है। रोज़मर्रा इस्तेमाल की चीज़ों में आश्चर्यजनक रूप से विविधतापूर्ण एवं समृद्ध सौंदर्यबोध बनाए रख सकने वाले एक समाज में, सीखने के लिए इतनी उदास दिखनेवाली जगह कैसे हो सकती है? विशिष्ट शहरी स्कूलों की निम्न और उच्च केजी की कक्षाओं में जाने पर जब मैं उनको चिपचिपे प्लास्टिक उपकरणों से भरा पाता हूं तो समझ नहीं पाता कि क्या प्रतिक्रियां करूं या स्वयं को कैसे समझाऊं कि सरकारी अधिकारियों से अधिक कल्पनाशीलता का दावा करनेवाले हमारे शिक्षा उद्यमी परंपरागत भारतीय हस्तकला के संसाधनों की दुनिया से इतने अनजान हैं, जहां से चीज़ें लेकर वे छोटे बच्चों के लिए बेहतर शुरुआती कार्यक्रम बना सकते हैं। कुटीर उद्योग, वाणिज्य केन्द्रों (इंपोरियमों) में जाने पर उनके खिलौना प्रभाग के आकार को देखकर मुझे हमेशा झटका लगता है। तब मैं सोचता हूं कि हमारी जड़ शिक्षा व्यवस्था को हस्तशिल्पों की तरफ़ खिसकाने के लिए कितने और कमलादेवी चट्टोपाध्याय, पुपुल

कृष्ण कुमार, एनसीईआरटी के निदेशक है। शिक्षा और समाज के मसलों पर निरंतर लिखते हैं।

जयकर, लैला तैय्यबजी तथा 'उरमूल', 'सेवा' और 'संधी' की ज़रूरत होगी।

राजस्थान से आई नवीनतम पाठ्यपुस्तकों के मुखपृष्ठों को देखकर मुझे आश्चर्य होता है कि रंगों और डिज़ाईनों की इतनी चौंका देनेवाली समझवाला राज्य इतनी नीरस मुखपृष्ठ कैसे बना सकता है। उनकी विषयवस्तु से निराश होने का एक और पूरी तरह अलग मामला है। आख़िरकार अजमेर स्थित बोर्ड कार्यालय 'तिलोनिया' के साथ मिलकर करोड़ों राजस्थानी बच्चों के लिए कम से कम बेहतर मुखपृष्ठ बनाने का काम क्यों नहीं कर सकता? हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भारत के बच्चों और उनकी राष्ट्रीय विरासत के बीच, स्कूलों और हस्तशिल्प के बीच तथा शिल्पियों और शिक्षकों के बीच संपर्क नहीं है।

स्कूली पाठ्यक्रम में हस्तशिल्पों को शामिल करने का विचार न तो नया है और न अपने आप में इतना विवादास्पद, इसके बावजूद अब इसे लागू करना उतना ही कठिन दिखता है जितना 1937 और 1967 के बीच यह सिद्ध हुआ था। महात्मा गांधी की उत्साही पैरवी करने के बाद, काफ़ी विरोध के बावजूद यह विचार आगे बढ़ा जिसका आंशिक कारण गांधीजी की राजनीति और उनका व्यक्तित्व था। पर मुख्य कारण युद्धकालीन समय में स्वतंत्रता संग्राम की ऐतिहासिक परिस्थितियां थीं। उस समय भी नए विचारों के प्रति भ्रम और द्वेष तथा उनकी ग़लत व्याख्या की आज़ादी इतनी ही सामान्य थी जितनी आज है। यहां तक कि मुल्कराज आनन्द जैसे प्रगतिशील लेखक और विचारक ने गांधीजी के प्रस्ताव की आलोचना की, शायद इस आधार पर कि इससे बाल श्रम को प्रोत्साहन और वैधता मिलेगी। कांग्रेस–लीग मतभेद, सीखनेवाले की मातृभाषा में हस्तशिल्प आधारित समग्र बुनियादी शिक्षा के प्रति शत्रुतापूर्ण माहौल पैदा करने का मुख्य आयाम बन गया।

इन समस्याओं के बावजूद, स्वंतत्रता के बाद भारत के अनेक भागों में इस विचार को लागू किया गया और इसे काफ़ी समर्थन मिला। इसने एक ऐसी पीढ़ी पैदा की जिसने औपनिवेशिक स्कूली शिक्षा के माल से कुछ अलग प्राप्त किया। यदि हम इस 'कुछ अलग' की व्याख्या करने के लिए एक शब्द प्रयोग करे सकें तो वह संसाधनपूर्णता होगा। अपने हाथों से स्वयं चीज़ें बनाने की इच्छा (यदि दुनिया को पुनर्गठित करने की मूलभूत इच्छा को कुचला न जाए तो कुछ भी बनाने की इच्छा, जैसा कि बचपन में महसूस होती है) और यह विश्वास कि कोई भी सभी प्रकार की चीज़ें बना सकता है। गांधीजी अपनी 'नई तालीम' द्वारा बुनियादी स्कूलों में थोड़े से लोगों में यही पैदा कर सके।

काफी सफलता और अब अच्छी तरह दस्तावेजों में संकलित विविध कारणों से, कोठारी आयोग की 1964–66 की रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। हालांकि मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसा करना उसका स्पष्ट उद्देश्य नहीं था। भारत उस समय तक विकास के नए चरण में प्रवेश कर चुका था और 1960 दशकांत में, बच्चों की हस्तशिल्प केन्द्रित शिक्षा को अनावश्यक व आदर्शवादी सनक के रूप में देखने की शुरुआत हो चुकी थी। अनेक दूसरे गांधीवादी विचारों का भी यही हश्र हुआ।

आज स्कूलों में हस्तशिल्प शुरू करने में कठिनाई का एक मुख्य कारण, यह व्यापक नज़रिया है कि यह एक बार असफल हो चुका है। विचारों की 'सफलता' या 'असफलता' की अवधारणा सभी स्तरों पर निर्णयकर्ताओं की दुनिया में अंतर्निहित होती है। जब, आईटी उद्योग, शिक्षाशास्त्री बने

इंजीनियरों एवं प्रबंधन गुरुओं द्वारा लगातार बहुत से नये चमकदार विचार लगातार दिए जा रहे हों तब उस स्थिति में एक असफल विचार को दूसरा मौका कौन देना चाहेगा? उन बहुपक्षीय एजेंसियों को कैसे भूला जा सकता है जो तीसरी दुनिया के उपभोग के लिए काफी नियमित रूप से अवधारणाओं और कार्यक्रमों की खोज करती रहती हैं? भारत परंपरागत शिल्प आमतौर से 'विकसित' नज़रिए में नहीं आते। वे आ भी कैसे सकते हैं? जब प्लास्टिक हमारी जिन्दगियों पर एक विशाल कम्बल की तरह फैली हो तब संस्कृति और जीवनशैली विविधताओं को छोड़ें, हम यह भी याद नहीं कर सकते कि संवेदी अनुभवों की विविधता का क्या अर्थ है। विकसित देश बनने का सपना तेजी से, ख़ुशबुओं पर एक ही जायकेवाली आइसक्रीमें तैयार करने जैसा हो रहा है।

दूसरी ओर हस्तशिल्प संभवतः भारत की सांस्कृतिक बहुलता का सर्वाधिक प्रतिनिधि संकेत है। वे काम और मूल्यों को एक ऐसे संदर्भ के अंतर्गत जोड़ने के प्रतीक हैं जो प्रत्येक मनुष्य में कलाकार की उपस्थिति स्वीकार करता है। इन दिनों हम शिल्पों के कुछ विशिष्ट कलाकारों की पहचान 'कुशल शिल्पी' ('मास्टर क्राफ्टमैन') के रूप में कर उनका सम्मान करते हैं। ऐसी श्रेणी हमारे प्रतियोगितात्मक स्वभाव के अनुकूल है तथा उसे संतुष्ट करती है। हम निर्यात योग्य शिल्पियों और मुफ़्त रेलवे पास आदि की सहायतावाले शिल्पियों के तौर पर भी भेदभाव करते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि परंपरा से शिल्पी ग्रामीण समुदाय के साधारण सदस्य होते थे। वास्तव में एक शिल्प का व्यवहार करना सामान्य जीवन का एक आयाम था और शिल्प उत्पाद का मक़सद इसका रोज़मर्रा ज़िन्दगी में इस्तेमाल होना था।

शिल्प उत्पाद जीवन के सभी क्षेत्रों पर छाए हुए थे और वे उसे शोभा तथा अंहकाररहित सौंदर्य के हल्के प्रकाश से भर देते थे। फर्श बुहारने के लिए झाड़ू, सोने के लिए चटाई या चारपाई, पानी रखने के लिए बर्तन, खेलने के लिए मिट्टी का घोड़ा या गुड़िया तथा ठंडी हवाओं से बचाने के लिए शाल– सभी इस्तेमाल के लिए बनाए जाते थे और अपनी सतत सौंदर्यबोध शक्ति के साथ ड्रिप (जड़ों को बूंद–बूंद कर खाद–पानी देनेवाली) सिंचाई प्रणाली की तरह वे रोज़मर्रा जीवन की यात्रा में घुलमिल जाते थे।

रोज़मर्रा ज़िन्दगी में गहराई के इस स्तर पर, शिल्प भारत में व्यापक और चौंकानेवाली विविधता के संकेत की तरह काम करते हैं। थोड़ा व्यंग्यात्मक बात है कि पाकिस्तान का एक संग्रहालय देखते समय मैं इस समझ पर पहुंचा। हमारे यहां इसके जैसा कुछ नहीं है इसलिए इसके बारे में कुछ पंक्तियां ज़रूरी हैं। मैं इस्लामाबाद के बाहरी इलाक़े में स्थित 'लोक विरसा' का ज़िक्र कर रहा हूं। देश के भीतरी चेहरा प्रस्तुत करनेवाली यह पाकिस्तान के लोकवार्ता विभाग की शानदार रचना है। यह एक ऐसा चेहरा है जिसने राष्ट्रीय जीवन द्वारा सामूहिक रूप से अनुभव की जानेवाली तमाम सामूहिक मुसीबतों के बावजूद अपनी चमक और विविधता बनाए रखी है।

'लोक विरसा' आधुनिक संग्रहालयीन प्रयास और उपकरणों तथा पाकिस्तान में प्रयोग किए जा रहे शिल्पों का शानदार नमूना है। इसमें प्रदर्शित चीज़ें गहराई से, शिल्प और जहां यह फला–फूला वहां के प्राकृतिक भूगोल से इसके संबंध, सामुदायिक जीवन से इसका स्थान और स्थानीय संस्कृति, उसके विश्वासों तथा जेंडर संबंधों को बदलने में उसकी भूमिका को संप्रेषित करती हैं। 'लोक विरसा'

स्पष्ट रूप से, शिल्पों में जड़ें जमाए सभ्यता में महिलाओं के योगदान का आनन्द मनाती है। भारत से एक दक्षिण एशियाई अतिथि के तौर पर मैंने पाया कि 'लोक विरसा' इस चीज़ की जीवन्त यादगार है कि शिल्प पूरे क्षेत्र में विश्वास, समृद्धि और शांति बनाए रखने में क्या कर सकते हैं।

शिल्पों से शिक्षा को जोड़ने का विचार एक बार फिर अच्छा है। पर पिछली ग़लतियों से बचने के लिए उपयुक्त पश्च दृष्टि के साथ। क्योंकि दोनों क्षेत्र आज एक ही प्रकार के संकट से ग्रस्त हैं। शिक्षा एक ऐसे क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है जहां समाज स्वयं को पुनर्जीवित कर सकता है, यदि वह इस स्थान का न्यायोचित उपयोग करे। संबंध जोड़ने के दौरान, शिक्षा का हृदय अभिव्यक्ति है। यह एक सुस्थापित तथ्य है कि भारत की शिक्षा व्यवस्था मृतप्राय बनी हुई थी, आंशिक रूप से प्रशासन और वित्तीय व्यवस्थाओं की औपनिवेशक विरासत के कारण, पर मुख्यतः इस कारण कि पुरानी सांस्कृतिक विरासतें साक्षरता और बौद्धिक शिक्षण तथा शारीरिक कार्य और कौशल में विभाजन करती थीं। प्राथमिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने और व्यवस्था को सुधारने में हमारी राष्ट्रीय विफलता के कारण इसे (10 मिलियन कारीगरों सहित) तथाकथित कमज़ोर तबकों के सामाजिक बहिष्करण का औज़ार बनने से रोका नहीं जा सका। इन कारणों का जितना संबंध पाठ्यक्रम के सांस्कृतिक चरित्र से है उतना ही हमारे कठोर प्रशासनिक व्यवहारों से भी।

सुधारों को लागू करने में देरी की हमें भारी क़ीमत अदा करनी पड़ी है। युवाओं में आत्मविश्वास और पहलक़दमी की भावना पैदा करना तो दूर की बात, हमारी व्यवस्था ने उनको व्यापक समाज से अलग–थलग महसूस करना तथा जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्यक्तिगत निर्णय लागू करने में डरना सिखाया है। न यह ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करती है न संवेदनशीलता को पोषित करती है। करोड़ों लोगों के लिए, व्यवस्था उसी तरह काम करती जा रही है जिस तरह यह उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम समय में करती थी। यह ऐसे काग़ज़ का टुकड़ा प्राप्त करने का माध्यम है जो लगातार घटती कार्यालयीन नौकरियों का वादा करता है। स्वतंत्रता के बाद नीतिगत निर्णयों के इतिहास में बहुत ज़ोरशोर से काम और शिक्षा को जोड़ने की बात की गई है, पर हमारी संस्कृति के सबसे पुराने नकारात्मक रूप–मनासिक और शारीरिक काम के बीच खाई कम करने में बहुत प्रगति हुई है। नए प्रकार की बुनियादी शिक्षा का गांधीजी का प्रस्ताव वास्तव में इसी खाई को कम करने को लक्षित था पर चीज़ें उस तरह नहीं चलीं जैसा उन्होंने सोचा था।

कोई कारण नहीं कि हम स्कूली पाठ्यक्रम में शिल्प शिक्षा शामिल करने के गांधीजी के विचार पर फिर नहीं लौट सकते। एक पाठ्येतर गतिविधि के तौर पर नहीं बल्कि एक अनुभव के तौर पर जो बाक़ी पाठ्यक्रम को व्यापक अर्थ तथा गहराई देगा। यदि हम इस मामले पर फिर से सोचें तथा इस पर कल्पनाशील एवं पश्च दृष्टि के साथ काम करें तो हम शिक्षा व्यवस्था को इस तरह सुधार सकते हैं जिस तरह केवल शिल्प हमें सुधारने में मदद कर सकते हैं और इस प्रक्रिया में हम शिल्पों की अपनी विरासत को प्रमुख संस्थागत स्थान भी दे सकते हैं जहां नई डिज़ाइनें, तकनीकें, संबंध और नज़रिए फल–फूल सकते हैं। जातीय आधार पर विभाजित समाज में दूसरी अन्य बहुत सी चीज़ों की तरह अलगाव और ठहराव से ज्ञान तथा शिल्प के कौशल आयामों को भी नुक़सान पहुंचा। औपचारिक शिक्षा को शिल्पों के साथ जोड़ने पर दोनों में रचनात्मकता को बढ़ावा मिल सकता है।

इस प्रस्तावित संबंध पर आगे बात करने से पहले, मैं

दो पुस्तकों–उर्सुला ह्यूज़ की 'द मेकिंग आफ अ साइबरटेरियट' तथा उर्सुला फ्रैंकलिन की 'द रियल वर्ल्ड ऑफ टेक्नालाजी' की सहायता से संक्षेप में आर्थिक दुनिया में शिल्पों के संकट की जांच करना चाहूंगा।

उर्सुला ह्यूज़ एक श्रम अर्थशास्त्री हैं और नारीवाद तथा मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्धता के कारण उनको लुड्डाइट (कारीगरों के वर्ग का जिसने मशीनों के नष्ट करने के लिए दंगे किए) नहीं कहा जा सकता। लंदन में कामगार अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लंबे कैरियर में छपी केवल एक किताब में उनका तर्क है कि तकनीक और सामाजिक संबंधों के इतिहास में कुछ विशेष हो रहा है, और हम एक नये चरण की शुरुआत से गुज़र रहे हैं जो विचारधारात्मक थकान से मुक़ाबला करने के लिए एक नए स्तर की मानवीय सरलता की मांग करता है। उनका तर्क है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मालिक–मज़दूर संबंधों में एक संतुलन स्थापित हो गया है। तकनीक के इतिहास में इस तरह के अनेक महत्त्वपूर्ण मोड़ आए हैं, प्रत्येक स्तर स्वयं तकनीक में मानव कौशलों को शामिल कर लेने और कौशलों के मालिकों को व्यर्थ बना देने के लिए एक नए स्तर के पूंजी निवेश का प्रतिनिधित्व करता है, पर वर्तमान स्तर अधिक गहरा है। ह्यूज़ हमें दिखाती हैं कि विज्ञान और तकनीक की दिशा इस चीज़ पर निर्भर करती है कि मुनाफ़े और निवेश हमें कहां ले जाते हैं। दूसरे शब्दों में इसका समर्थन करनेवाली तकनीक और विज्ञान की प्रगति को मूल्यों और इरादों से निबटना होगा।

ह्यूज़ बहुत से उदाहरण देती हैं। इनमें से एक 'साइबरटेरियट' का उभरना है जिसमें कार्यालयीन कर्मचारी–पश्चिमी दुनिया में अधिकतर महिलाओं–के सभी कौशल शामिल होते हैं और जिसने युद्ध के बादवाले दर्शकों में एक सामूहिक आत्मछवि विकसित कर ली है। अब इसके कोई मायने नहीं है कि आप एक पत्र की कितनी बढ़िया डिज़ाइन बनाकर इसे फार्मेट कर सकते हैं, या कितनी कुशलता से आप पहले ड्राफ़्ट में की गई ग़लतियां ठीक कर सकते हैं। सेक्रेटरी के काम में शिल्प का तत्त्व समाप्त हो गया। डेस्कटॉप (कम्प्यूटर) ने शताब्दियों की शिल्पकारिता को अपने भीतर समाहित कर लिया है। इसे प्रयोग करनेवाले को अब मेन्यू में पेश अनेक संकेतों– 'फार्मेट', 'व्यू' या केवल 'हेल्प' में से ज़रूरी संकेत पर बस क्लिक करना होता है। ह्यूज़ उन परिवर्तनों को समाने लाती हैं कि यह कैसे आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों को बदलेगा, ख़ासकर कार्य आधारित सेक्युलर पहचानों को। अनेक ऐसे उदाहरण देने की प्रक्रिया में वे हमें शिल्पों को परिभाषित करने का एक संकेत देती हैं। शिल्प ऐसी चीज़ है जिसके लिए सावधानी तथा व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने की ज़रूरत होती है और जो यह संप्रेषित करने के माध्यम से पहचान बनाता है, 'मैं इसे अच्छी तरह कर सकता हूं, मैं यह हूं।'

शिल्पों के सामने आनेवाला संकट वास्तव में पहचानों के बड़े द्वंद्व की अभिव्यक्ति है जिस पर काफ़ी स्पष्ट रूप से समाजविज्ञानियों यहां तक कि अर्थशास्त्रियों ने ग़ौर किया है। उदाहरण के लिए सिलाई को लें। जो चीज़ इसे शिल्प बनाती है वह उस एक व्यक्ति से जुड़ी हैं जो काटने, सिलने और अंत में महीन काम में ध्यान देता और चिन्ता करता है। जब व्यक्ति यानी सिलनेवाला दर्ज़ी केवल शरीर के आकार तक सीमित रह जाता है तो शिल्प साफ़्टवेयर में ग़ायब हो सकता है जिससे केवल वस्त्र फैक्ट्री बचती है जहां कामगार को कोई निर्णय नहीं लेना होता है, उसे बस सही समय पर सही बटन दबाने होते हैं।

परंपरागत शिल्पों को स्कूल पाठ्यक्रम में शामिल करने की पैरवी करनेवाले हमारे जैसे लोग निश्चित रूप से अपने चारों ओर की आर्थिक व तकनीकी स्थिति तथा आनेवाले आर्थिक परिवर्तनों से बहुत निराश होते हैं। ऐसे परिवर्तन शिल्पों के इतिहास में पहले भी हुए हैं, पर इस बार संकट के तेज़ी से फैलने की संभावना है। ऐसे देश हैं जो नई वास्तविकताओं को समझकर तथा उनके भीतर काम कर अपने शिल्पों को बचाने में सफल हुए हैं। दक्षिण अफ्रीका ऐसा ही एक देश है जहां शिल्प उत्पादों का संगठन और बिक्री अब व्यापार और पर्यटन से मज़बूती से जुड़ा है। भारत में भी यह प्रयास किया जा रहा है, हालांकि हमारे काम का दायरा काफ़ी सीमित और हमारी प्रगति धीमी है। मुझे विश्वास है कि कुछ समय में काफ़ी संख्या में बेहतर प्रबंधन विशेषज्ञों को शामिल कर हम अपने शिल्पों के लिए काफ़ी बड़ी बाज़ार बनाने में सफल होंगे और शायद काफ़ी संख्या में शिल्पियों और महिलाओं के लिए बेहतर रोज़गार मिलने की संभावना होगी– कम से कम उससे बेहतर आजीविका जिसे वे आज हासिल कर पा रहे हैं।

अपनी किताब, 'द रियल वर्ल्ड आफ टेक्नालाजी' में उर्सुला फ्रैंकलिन समग्र व निर्देशात्मक तकनीकों के बीच अंतर करती हैं। अंतर का आधार यह है कि क्या तकनीक व्यक्तियों को उसे नियंत्रित करने के अधिकार की अनुमति देती है। जहां निर्देशात्मक तकनीकें सक्षम हैं और भारी संख्या में लोगों को एक समूह के तौर पर काम करने की अनुमति देती हैं, वे काम के सभी आयामों पर नियंत्रण को किसी ऊपर के आदमी को स्थानान्तरित कर देती हैं। इसके अलावा हर व्यक्ति केवल वही करना जानता है जिसे करने की उसे ज़िम्मेदारी दी जाती है। समग्र तकनीक में लोग अपने काम की प्रक्रिया पर नियंत्रण करते हैं। एक उत्पाद पर काम करते समय निर्णय शिल्पी का होता है, ऊपर बैठे किसी उच्च अधिकारी का नहीं।

कनाडा में चोटी के प्रायोगिक भौतिकविज्ञानियों में शामिल फ्रैंकलिन, निर्देशात्मक तकनीक के सबसे शुरुआती उदाहरण के तौर पर प्राचीन चीन में ढाले जानेवाले विशाल बर्तनों का ज़िक्र करती हैं। इस काम को अलग–अलग लागू किए जानेवाले लक्ष्यों की एक शृंखला के तौर पर संगठित किया जाता था जिसमें भारी संख्या में लोग शामिल होते थे। वे सभी एक प्रबंधक या मालिक के पर्यवेक्षण के अंतर्गत सटीक मानकोंवाला काम करते थे। समग्र तकनीकों का उदाहरण वे हस्तशिल्पों के माध्यम से देती हैं जिनमें अवधारणा बनाने, उस पर काम करने तथा उसे पूरा करने के लिए व्यक्तिगत रचनाकार की ज़रूरत होती है। फ्रैंकलिन कहती हैं कि दोनों प्रकार की तकनीकों में, 'बिल्कुल अलग विशेषज्ञताएं और श्रम विभाजन शामिल होते हैं और आख़िरकार उनके बिल्कुल भिन्न सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव होते हैं।'

निर्देशात्मक तकनीकें, आज्ञा पालन की संस्कृति विकसित करती हैं। फ्रैंकलिन का तर्क है कि सामाजिक और राजनीतिक विचारों को शक्ल देकर तथा नौकरशाही के सर्वाधिक आरम्भिक ज्ञात उदाहरणों के साथ ऐसा प्राचीन चीन में हुआ। समग्र तकनीक भारी संख्या में शिल्पों में प्रयोग की जाती है और इसने यूरोप के सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को शक्ल दी। फ्रैंकलिन बताती हैं कि औद्योगिक क्रांति के समय निर्देशात्मक तकनीकें, 'समुद्र पर गिरे तेल की तरह फैली; पर उनका तर्क है कि पसंद का तत्त्व लगातार प्रासंगिक बना रहा। हालांकि समग्र तकनीकों का जीवित बने रहना अधिक अनिश्चित हो गया है, पर समझ–बूझ और पसंद के आधार पर उन क्षेत्रों की फौरन पहचान करने के कारण मौजूद हैं (जैसे पर्यावरण संसाधनों

की कमी और विभिन्न प्रकार के राजनीतिक संकट जिनको अत्यधिक औद्योगिक तथा कम औद्योगिक देश, दोनों अनुभव कर रहे हैं) जहां दोनों प्रकार की तकनीकें लागू करने की ज़रूरत है।

हस्तशिल्पों की लंबी परंपरा में शताब्दियों से, उद्योगों की आधुनिकीकरण प्रक्रिया का अर्थ ख़ासकर उन सामाजिक समूहों के लिए काफ़ी परेशानी और भय पैदा करनेवाला रहा है जो किसी हस्तशिल्प के विशेषज्ञ और अपने जीवन के लिए उस पर निर्भर थे। भारत में इस प्रकार की परेशानी को हस्तशिल्प के संरक्षकों द्वारा लगभग लगातार अभिव्यक्त किया गया, उनमें से अनेक ने पूरा कैरियर अपने शिल्प को राज्य की आर्थिक विकास योजनाओं में स्थान सुनिश्चित कराने के लिए कठोर संघर्ष करने में लगा दिया। यह संघर्ष जारी रहना चाहिए, साथ ही शिल्पों को बचाए रखने और उनके विकास के लिए स्कूली शिक्षा व्यवस्था के भीतर स्थान का दावा किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005 (एनसीएफ) यही करना चाहता है।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के अंतर्गत परंपरागत शिल्पों पर लक्षित समूह की रिपोर्ट ने संकेत किया कि शताब्दियों से शिल्प, भारतीय दर्शन, तत्त्ववाद, कला और सामाजिक जीवन के लिए मुहावरों और विचारों के संसाधन की तरह सेवा की है। रिपोर्ट कहती है, 'शिल्प–सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में स्कूल और समाज के सभी स्तरों, स्थानों और क्षेत्रों में सभी बच्चों के भावनात्मक, आर्थिक एवं बौद्धिक सशक्तीकरण का शक्तिशाली औज़ार हो सकते हैं।' यह दावा किसी स्कूल प्रधानाचार्य या राज्य शिक्षा अधिकारी को स्कूलों में शिल्प को मौका देने के लिए काफ़ी हो सकता है।

स्कूल पाठ्यक्रम में शिल्पों को शामिल करने में, शिक्षा व्यवस्था में लंबे समय से इच्छित अनेक परिवर्तनों को शुरू करने की क्षमता है। शिल्प पाठ्यक्रम की पूरी क्षमता को प्राप्त करने के लिए तैयारी के अनेक क़दम उठाए जाने चाहिए। हमें यह सोचना होगा कि स्कूल में इसे पढ़ने की इच्छा करनेवाले छात्रों को जरूरी सामग्री और औज़ार कैसे उपलब्ध कराए जाएं। यदि हम इस काम को ख़रीद और बिक्री की तरह समझेंगे तो हो सकता है हम 1980 के दशकांत में ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड में की ग़लतियों को दुहराने लगेंगे।

प्राइवेट स्कूलों (जिनको भारत में 'पब्लिक' स्कूल कहते हैं) के लिए अपने फैसले लेने में कोई समस्या नहीं है कि ऐसे औज़ारों जैसे– करघे, कपड़े, रंग और तागे, लकड़ी, मिट्टी या भट्ठी को कहां से प्राप्त करेंगे। प्राइवेट स्कूलों में असली चुनौती प्रबंधन और अक्सर प्रधानाचार्य के दिमाग़ को तड़क–भड़क, चमक–दमक और एयरकंडीशनिंग से बदलने और आगे की दिशा में चलाने की होती हैं। अपनी बहुत व्यस्त समयसारिणी में शिल्पों के लिए जगह बनाने के प्रयास में प्राइवेट स्कूलों को शहरी संपन्न माता–पिता की जीवनशैली और मांगों का ध्यान रखना होगा। यह भय कि अगर उनके लड़के अपनी अंग्रेज़ी पाठ्यपुस्तक में गाल्सवर्दी की 'क्वालिटी' पढ़ने के बाद जूता बनाना सीखने में समय ख़र्च करेंगे तो वे आईआईटी प्रवेश परीक्षा में असफल हो जाएंगे। काफी प्रधानाचार्यों और प्रबंधक समितियों के विभागाध्यक्षों को इसे विचार से दूर करेगा।

इससे कहीं बड़ी व्यवस्थागत चुनौती सरकारी स्कूल व्यवस्था के सामने है जिसमें केन्द्रीय एवं नवोदय विद्यालय के रूप में उनकी अधिक विशेषाधिकार प्राप्त उप–व्यवस्थाएं शामिल हैं। सरकारी स्कूलों को अलग–अलग संस्थानों की तरह नहीं समझा जाता है। सभी चीज़ें ऊपर के निर्देश पर होती हैं और यह सभी स्कूलों में लागू होता है। सरकारी स्कूलों पर लागू होता है। सरकारी स्कूलों के स्वायत्त संस्थान की तरह व्यवहार न किए जाने के

कारण, जहां प्रधानाचार्य और शिक्षकों को पसंद के एक ढांचे के अंतर्गत कुछ मामलों पर पेशेवर निर्णय लेने की स्वतंत्रता हो, सुधार के बहुत से महान् विचार जरा भी असर छोड़ने में विफल हो गए।

यदि शिल्पों को शामिल करने का निर्णय एक प्रबुद्ध राज्य निदेशक द्वारा लिया गया, तो यह प्रयासों की शुरुआत से पहले ही उसके अंत की गारंटी होगा। पसंदे अनुपयुक्त होंगी, विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से सप्लाई किए उपकरणों और सामग्री में भ्रष्टाचार की संभावना होगी और यह सामग्री बक्सों में बंद रह जाएगी। इसके बजाय, यदि केवल एक रूपरेखा का प्रस्ताव हो तथा अलग–अलग स्कूलों को स्वयं शुरू किए जाने वाले शिल्प तथा प्रासंगिक सामग्री व औज़ार प्राप्त करने का स्रोत पसंद करने का अधिकार हो तो तार्किक रूप से प्रधानाचार्य से परियोजना के परिणाम के लिए ज़िम्मेदारी महसूस करने की आशा की जा सकती है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा ने इसका सुझाव व्यापक परिणामोंवाले एक सामान्य सुधार के रूप में दिया है। संस्थागत स्वायत्तता के विचार को आगे बढ़ाने में शिल्प एक अच्छा शुरुआती बिन्दु हो सकते हैं।

अपने पाठ्यक्रम में शिल्प शुरू करनेवाले स्कूलों को बच्चों और शिक्षकों के साथ काम करने के लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध शिल्पियों को अपने साथ जोड़ना चाहिए। भारत में शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जहां की अपनी शिल्प परंपराएं और तमाम तनावों के बावजूद इनका व्यवहार करने वाले लोग न हों। परंपरागत शिल्पों पर राष्ट्रीय लक्ष्य समूह ने भावुक अपील की है कि स्कूल शिक्षकों और बच्चों के साथ काम करने के लिए आमंत्रित किए जाने पर इन स्थानीय शिल्पियों को सम्मानजनक मानदेय दिया जाए। स्कूली जीवन में काम से संबंधित मूल्यों और नैतिकता को मज़बूती से अंतर्निहित करने के लिए शिल्प शिक्षण को पाठ्येतर योग मानने के बजाय उसे परंपरागत स्कूली विषयों के साथ जोड़ा जाना चाहिए।

जो स्कूल शिल्प शिक्षण को शामिल करने का निर्णय लें उन्हें चुने हुए शिल्प और दूसरे विषयों के बीच विभिन्न प्रकार के संबंधों की तलाश करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, गणित की सामग्री और डिजाइन आयामों से जोड़ा जा सकता है जबकि विज्ञान को कुम्हारगिरी जैसे शिल्पों की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय पढ़ाया जा सकता है। विशिष्ट शिल्प से संबंधित शब्दावली का प्रयोग और विस्तार, प्रासंगिक साहित्यिक सामग्री (जैसे फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी ठेस या गाल्सवर्दी की कहानी 'क्वालिटी', जिसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है) शिल्प के सामाजिक भूगोल (यानी इसका व्यवहार करनेवाले कौन हैं, उनके उत्पादों को कहां भेजा जाता है और किस इस्तेमाल के लिए बेचा जाता है, आदि) को समाजविज्ञान के पाठ्यक्रम से जोड़ा जा सकता है।

स्कूल में शिल्प सिखाने को कला शिक्षण के एक आयाम की तरह भी देखा जाना चाहिए। वर्तमान कला पाठ्यक्रम शास्त्रीय परंपराओं पर केन्द्रित होते हैं तथा लोक परंपराओं की अनदेखी करते हैं जबकि आमतौर से शिल्प इन्हीं में अंतर्निहित होते हैं। लोक परंपराओं और शैलियों को शामिल करने के लिए सभी प्रमुख क्षेत्रों जैसे संगीत, नृत्य, थियेटर, विजुअल आर्ट्स, आदिम कला पाठ्यक्रम के पुनरीक्षण की फौरी आवश्यकता है। ऐसी पुनर्परिभाषा के संदर्भ में शिल्प कार्यक्रमों को व्यापक कला शिक्षण ढांचे के अंतर्गत समाहित किया जा सकता है। यह उन अन्य संभावनाओं को अनदेखा करने की पैरोकारी नहीं है जिनका शिल्प कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकता है। जैसे व्यावसायिक प्रशिक्षण को उत्पादन कौशलों

और नज़रियों की ओर ले जाता है पर उनको मुख्य धारा या शिल्प की पैरवी को आधार बनाने की आवश्यकता नहीं है। आंशिक रूप से इस कारण कि गांधीवादी चरण में हमने इस विचार का अनुभव बिना अधिक सफलता के किया है, और इस कारण भी कि शिल्पों के सामने उस संकट को अचानक दूर होने के कोई तात्कालिक कारण नहीं दिखाई दे रहे हैं जिसका सामना वे आर्थिक रूप से जीवित बचे रहने के संदर्भ में कर रहे हैं।

जो स्कूल, पाठ्यक्रम में शिल्प परियोजना का विकल्प देते हैं उनको मूल्य शिक्षा के बारे में अपनी परेशानियों को भुला देना चाहिए। 'मूल्य शिक्षा' शब्द उस सीमा की याद हैं जिसके बारे में शिक्षा से हमारी उम्मीदें घट गई हैं। हमारे सामने शिक्षा में मूल्य डालने के अनेक कार्यक्रम आते हैं, जैसे स्कूलों में जो चल रहा है उसमें मुट्ठीभर मूल्य डाले जा सकते हैं। शिल्प यह भूमिका इस तरह से अदा करेंगे जिसे बहुत से लोग आसानी से पहचान नहीं सकेंगे क्योंकि शिल्प सीखने के मूल्य आयाम बहुत सूक्ष्म होते हैं।

शिल्प सीखते समय बच्चे एक प्रक्रिया में भाग लेते हैं जो प्रत्येक सीखनेवाले को एक सुखद पर कठोर मेहनत की मांग करनेवाली परंपरा में प्रयोग के समुचित अवसर देती है। सही होने के मानक स्वयं अपने काम में पैदा होते हैं। यदि शिक्षक उत्पीड़क न हो और प्रधानाचार्य वार्षिक दिवस कार्यक्रम में वीआईपी मुख्य अतिथि को आश्चर्यचकित करने के लिए छात्रों के सर्वोत्तम उत्पाद प्रदर्शित करने की योजना न बना रहे हों तो फिर से करने और ख़ुद को ठीक करने की क्षमता स्वाभाविक रूप से पोषित होती है। दूसरों के साथ संबंधों के संदर्भ में उच्च–स्तरीय नैतिक मूल्य पैदा होते हैं, जिनमें प्रकृति के साथ संबंध भी शामिल हैं। स्वर्गीय डेविड हार्सबरो ने समझाया है कि काम करनेवाली सामग्री हमें अपने साथ व्यवहार करना कैसे सिखाती है। यदि हम लकड़ी के एक खरादनेवाले टुकड़े के साथ खराब व्यवहार करते हैं तो वह टूट जाता है।

गांधीजी के जीवन पर अपनी किताब में मार्जरी साइक्स बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के हिस्से के तौर पर कताई सीखनेवाले बच्चों और शिक्षकों से अपनी बातचीत को याद करती हैं। शिक्षकों ने उन्हें बताया कि वे कपास की बोड़ियों को केवल तभी तोड़ते हैं जब वे पूरी तरह पक जाती हैं, क्योंकि उनके लिए 'बस एक हल्का सा स्पर्श काफ़ी है, वे आसानी से टूट जाती हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वे अभी तोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। हमें कुछ दिन और इंतज़ार करना चाहिए। हमें अधीर या लालची नहीं होना चाहिए।' साइक्स की टिप्पणी है, ''यह भी शिक्षा थी, इस बात की शिक्षा कि दूसरी जीवित चीज़ों, पौधों, जानवरों के साथ उनके अपने प्राकृतिक जीवन–चक्र में सम्मान से कैसे व्यवहार किया जाए। यह अहिंसा के एक आयाम की शिक्षा है।''

जब स्कूल और शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान शिल्पियों के साथ काम करना शुरू करते हैं तो शिल्प सीखने के बहुत से अन्य आयाम उभरेंगे जो शिक्षा में नैतिकता के लिए प्रासंगिक होंगे। समय और कठोरता का अलग अनुभव, उत्पाद की व्यक्तिगत देखभाल और विस्तार, किसी शिल्प अनुभव के सामान्य आयाम है। चाहे आप एक रूमाल पर कढ़ाई कर रहे हों या लकड़ी के एक टुकड़े पर नक्काशी, आपको अपनी खोज, आनन्द और आराम की एक लय का अहसास होगा। यदि आप एक शिल्प का अभ्यास एक ऐसे माहौल में करते हैं जो व्यक्तिगत सम्मान और न्याय की गारंटी करता है तो आपको ऐसा आत्मविश्वास मिलेगा जो किसी दूसरी चीज़ से नहीं मिल सकता है।

अनुवादक– **के.बी. सिंह।** हिंदी लेख नालंदा द्वारा प्रकाशित प्रारंभ से साभार।

शिक्षासत्र

★एल.के. एमहर्स्ट

'शिक्षासत्र' कुछेक वर्षों से शांतिनिकेतनी शैक्षिक प्रयोगों और श्रीनिकेतन स्थित ग्रामीण पुनर्निमाण संस्थान के दो साल के अनुभव का स्वाभाविक परिणाम था। अतीत की असफलताओं और सफलताओं से सहज बुद्धि से जो सीखा जा सकता था, उन्हीं सिद्धान्तों पर यह आधारित था।

बच्चों की ख़ूबसूरती मुख्यतः उनकी सहजता, विकास की उनकी क्षमता और ख़ास तरह के देहाती खुलेपन में निहित होती है। परंपरा के बंधनों से वे मुक्त होते हैं और मुख्यतः आंतरिक संवेगों से संचालित होते हैं। इसीलिए जीवन के विस्तृत मैदान में अपना रास्ता वे ख़ुद खोजते हैं, भरपूर आनंद के साथ अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त करते हैं। बाद में तो यह आनंद सूख जाता है।

घरेलू जानवरों की तरह बच्चों में भी निर्द्वंद्व उल्लास सरलतम रूप में दिखाई पड़ता है। ज़िंदगी को खेल और दुनिया को परियों का देश समझने की क्षमता उनमें होती है। बिल्ली के छौनों के लिए जो कुछ भी गतिमान है, वह संभवतः चुहिया है। कुत्ते के बच्चे के लिए घर का कोई भी सामान अगर छूने में चूहे की तरह मुलायम है तो वह उसके पीछे परेशान रहेगा। उनमें कोई आंतरिक चालक शक्ति, निश्चित दिशा में विकास की कोई प्रवृत्ति विद्यमान होती है। वे लगातार आत्मरक्षा से प्रेरित होकर कष्टसाध्य अनुभव बटोरते रहते हैं। इसी के साथ उनकी जीवन शक्ति भी छलकती रहती है। यह सब कुछ

★ अनुवाद, गोपाल प्रधान; रवींद्रनाथ का शिक्षा दर्शन; ग्रंथ शिल्पी से साभार

बुजुर्गों को उनका बचपना भरा खेल लगता है।

विकासमान पौधे में भी जब बीज ऊपर की ओर उत्साहपूर्वक पौधा फेंकता है तो यही उल्लास दिखाई पड़ता है। बीज के ठीक ऊपरी सिरे में जीवन की बाढ़ सिमटी होती है। उम्र कोमल नोक पर कोशिका पर कोशिका तेजी से इकट्ठी होती जाती है जब तक मूल बीज के भीतर समाया हुआ कुछ भी आहार बचा रहता है। जब भोजन ख़त्म हो जाता है तब वह नोक प्राकृतिक ढंग से अपना रास्ता तलाशकर खुली हवा में आ विराजती है। इस पहली बाढ़ के साथ कोई दुर्घटना हो गई या कोई गंभीर नुक़सान हो गया तो भविष्य के वृक्ष के लिए यह गंभीर विपत्ति होगी। हो सकता है, दूसरी शाखाएं निकल आएं, पहली बाढ़ की जगह ले लें, लेकिन एक चालक शक्ति, जीवन और संवृद्धि की खोज की आंतरिक इच्छा तो चलती ही जाती है।

मानव शिशु में भी यही गुण होता है। इसीलिए छोटे पौधे या जानवर के बच्चे की तरह आदमी के बच्चे के छुटपन में ही अप्राकृतिक दमन के ज़रिए उसके व्यक्तित्व को स्थायी क्षति पहुंचाना कोई मुश्किल काम नहीं। बचपन में खेल का समय निरर्थक नहीं होता। कठिन भविष्य की मांगों में वह गहरे जुड़ा होता है। अलग बात है कि कुछ दिनों तक आत्मरक्षा की चिंताएं माता–पिता को करनी होती हैं।

अपने बच्चों के संबंध में यह बात भूल जाना हमारी प्रवृत्ति है। बच्चों को अक्सर हम खिलौनों की दुनिया सौंपते हैं। कल्पना में भी यह याद नहीं रखते कि खिलौनों की दुनिया चाहे कितनी ही जीवंत क्यों न हो, मुख्यतः वह बड़े लोगों की दुनिया है। हम ऐसा सोचते हैं कि हमें बचपन में खेलने को यह मिलता तो अच्छा होता। लेकिन याद करिए कि अपने छिपने के लिए ज़मीन में खोह बनाना, जिससे मालियों को बड़ी विरक्ति होती, सचमुच की कुल्हाड़ी से लकड़ियां काटना, जूते में पालिश लगाना, आग जलाना, आटा सानना या रोटी सेंकना इत्यादि कामों में ही हमें सबसे अधिक ख़ुशी मिलती थी। वह तो इनके न मिलने पर अक्सर हमें झूठमूठ की ईंटों, खिलौनाघरों, खेलने के औजारों या खिलौनोंवाली रसोई पर संतोष करना पड़ता। अगर कभी गंभीर काम मिलता भी तो वह मेहनत का होता। हम थक जाते और हमारे सृजनात्मक संवेगों को कोई ख़ुशी हासिल न होती।

इसीलिए बचपन के इस उच्छल प्राचुर्य, इस ख़ूबसूरती, इस सादगी के साथ अनुभव से सीखते हुए कार्य करने में शिक्षासत्र का उद्देश्य है सृजनात्मक संभावनाओं से भरे वातावरण में बच्चों को अधिकतम स्वच्छंदता उपलब्ध कराना, उन्हें खेल की ख़ुशी प्राप्त करने के अवसर देना, खेल जो कार्य है, कार्य जो खोज है, जैसे कि नवप्राप्त अनुभव का पुनःपुनः अनुकरण। उसका उद्देश्य है, बच्चों को वृद्धि की वही स्वतंत्रता प्रदान करना जिसकी ज़रूरत नवजात पौधे की मुलायम नोक होती है, आत्मविस्तार के लिए खुला मैदान देना जिसमें सब तरह का नवजीवन प्रशिक्षण और आनंद, दोनों प्राप्त करता है।

छह से बारह वर्ष की आयु के बीच ही विकासमान बालक देखने, सूंघने, सुनने और चखने और सबसे आगे बढ़कर छूने और हाथों के प्रयोग के ज़रिए विभिन्न प्रभाव अर्जित करता है। इसीलिए शिक्षासत्र में शुरू से ही बच्चा हस्तशिल्प और गृहशिल्प में प्रशिक्षु की तरह दाख़िल होता है। कार्यशाला में प्रशिक्षित उत्पादक और संभावित सर्जक के रूप में वह हाथों की दक्षता और स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। अपनी रिहाइश बनाने, उसे सजाने और साफ़–सुथरा रखने के काम में वह शामिल रहता है। अतः उसमें रहते हुए वह मानव समुदाय के नागरिक की तरह आत्मा का

विस्तार और आत्मनिर्भरता अर्जित करता है।

भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में एक हद तक अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही बच्चा उनके समयोजन की ज़रूरत महसूस करता है। तब इंद्रिय संवेदन से प्राप्त आविष्कारों को लिख लेने, उनमें संबंध स्थापित करने, उनको मूर्त करने और उन्हें संयोजित करने का समय आता है। जब तक बच्चा वस्तुगत जीवन की मांगों और तथ्यों के निकट संपर्क में न रहा हो, तब तक उससे किसी और ज़रिए से प्राप्त तथ्यों और धारणाओं पर घंटों ध्यान केंद्रित करने की मांग निश्चय ही अनुचित है। वास्तविक जीवन में बच्चे की अभी जिन चीज़ों से मुठभेड़ हुई है या जो उसने देखा है, उससे ये तथ्य और धारणाएं पूरी तरह असंबद्ध होती हैं।

फिलीपींस के द्वीपों में कोई फार्म स्कूल है जहां तीन सौ छोटे बच्चे अपने छोटे–छोटे खेतों में काम करते हैं। अपने घर बनाते हैं, अपना खाताबही दुरुस्त रखते हैं, अपना नगर निकाय चलाते हैं, अपनी आजीविका इकट्ठी करते हैं और अपना मुनाफ़ा अपने पास रखते हैं। वहां के प्रिंसिपल का कहना है, ''हमारी तो सारी कक्षाएं अर्जित अनुभवों की गोलमेज बहस के रूप में चलती हैं। इसका एकमात्र अपवाद अंग्रेज़ी है। चूंकि हम अंग्रेज़ी का मानक पाठ्यक्रम पढ़ाते हैं जिसका बच्चों के जीवन से कोई रिश्ता नहीं, इसलिए अंग्रेज़ी की कक्षाओं में जीवन नहीं होता। अंग्रेज़ी में बच्चों की रुचि जगाने में मैं असफल रहा हूं।'' गृहशिल्प के तहत निम्नलिखित कार्य प्राथमिक शैक्षिक महत्त्व के होंगे–

– कमरों की देखभाल, सफ़ाई और निर्माण

– शौचालय की देखभाल और उचित प्रयोग, पाखाने की सफ़ाई।

– खाना पकाना और परोसना, कपड़े धोना और फटे कपड़े सिलना।

– व्यक्तिगत स्वास्थ्य विज्ञान और स्वास्थ्यकर आदतें।

– वैयक्तित आत्मानुशासन, सामुदायिक स्वशासन।

– जन सुरक्षा और तीमारदारी, अग्निशमन और आग पर नियंत्रण।

इनमें से प्रत्येक कार्य के लिए किसी न किसी कला पर महारत हासिल करना, किसी व्यावसायिक या सांगठनिक क्षमता को विकसित करना, विज्ञान के किसी नियम का अनुपालन आवश्यक है। सबको मिलाकर देखें तो इन कार्यों में व्यक्तिगत आत्मरक्षा के साथ पारिवारिक या सामुदायिक कर्तव्यों, ज़िम्मेदारियों और विशेषाधिकारों की प्रतिष्ठा है।

गृहशिल्प के तहत जो काम हैं, उनमें से अधिकतर हस्तशिल्प की प्रकृति के हैं। इरादा यह है कि शुरू से ही बच्चे के छोटे हाथों के अनुकूल किसी विशेष कार्य में उसे दक्ष बनाया जाए। इस काम में उसे आर्थिक लाभ भी होना चाहिए। उत्पाद या तो घरेलू उपयोग का हो या तुरंत बाज़ार में बिकने लायक। इस प्रक्रिया में बच्चा आत्मरक्षा की अपनी क्षमता को अपने हाथों के कुशल अनुभव के ज़रिए मूर्तिमान कर सकता है।

निम्नलिखित में से किसी भी काम को बच्चे द्वारा कुछेक हफ़्तों में आसानी से सीखा जा सकता है–

– रूई की बत्ती, लच्छी और धागा बनाना, स्कार्फ बुनना और बेल्ट बनाना, कालीन और दरी बनाना (बांस से लड़के करघा भी ख़ुद ही बना सकते हैं)।

– पटसन की चप्पल बनाना। सन की दरी और

पुआल भरे गद्दे बनाना।

– सिलाई, काग़ज़ बनाना, स्याही बनाना।

– साधारण वनस्पतियों के रंगों में रंगरेजी (कपड़े रंगने का काम), सादा सूती कपड़ों पर लकड़ी के ब्लॉक से छपाई।

– धूप में सुखाकर मिट्टी की ईंटें बनाना।

बड़े लड़के–लड़कियों के लिए निम्नलिखित कार्य ठीक होंगे–

– ऊन का काम, कपड़े की कटाई, धुनाई, गत्ते का काम, रंगरेजी, मोटे कंबल बुनना, बुनाई, रफू करना।

– मिट्टी के बरतन बनाना, बढ़ईगिरी और नक्काशी, लुहारगिरी और औज़ार बनाना।

– धूप में सुखाई ईंटों से घर बनाना, बेंत और मिट्टी से घर बनाना, बांस से घर बनाना, झोंपड़ी डालना।

– सिलाई और सिलाई मशीन का उपयोग।

– हाथ घड़ी और दिवाल घड़ी बनाना।

– साइकिल साफ़ करना और उसकी मरम्मत।

– छपाई के ब्लॉक बनाना, छापे के अक्षर सेट करना, छपाई, टंकण और प्रतिलिपि बनाना।

– संगीत के वाद्य बनाना : ढोलक, बांसुरी और इकतारा बनाना।

– खाना बनाना, गेहूं और अनाज पीसना, तेल निकालना, सूत निकालना, साबुन बनाना।

इनमें से भी प्रत्येक काम को करने में कोई कला, कोई विज्ञान, कोई व्यावसायिक तत्त्व शामिल होगा। इनमें से कोई भी शिल्प सिद्ध हो जाने पर आत्मरक्षा की खड़ी चढ़ाई चढ़ने का सुगम मार्ग बता देगा, बच्चे में भविष्य में आर्थिक स्थिरता हासिल करने का माद्दा पैदा करेगा, अपनी क्षमता में उसका आत्मविश्वास बढ़ाएगा। जीवन का संपूर्ण आनंद आत्मा की स्वतंत्रता पर आश्रित है। प्रशिक्षित उंगलियों और हाथों की कुशलता से कठिन जीवन संघर्ष को झेल जाने की शक्ति में विश्वास के बग़ैर आत्मा की उस स्वतंत्रता को प्राप्त करना असंभव है।

उपर्युक्त शिल्पों में कुछ ऐसे हैं जिनका देहाती जीवन से उतना निकट संबंध नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक शिल्प को सीखने में दक्षता का एक सम्पूर्ण व्याकरण सीखना होगा। यह व्याकरण जीवन से विच्छिन्न नहीं। इसे सीखने में शुरू में प्रयोग, ग़लती और असफलता की कटुता के मार्ग से गुज़रना ही होगा। किसी कुशल हस्तशिल्प के आख़िरी उत्पाद के पीछे ढांचों की सूखी हड्डियां लगी होती हैं। अक्सर, ख़ासकर किसी कक्षा में, जिस माहौल में वह पैदा हुआ है उस माहौल सहित मूल उत्पाद को भुला दिया जाता है और तब ये सूखी हड्डियां ही बची रह जाती हैं।

सभी कार्यशालाओं में से प्रकृति की कार्यशाला विस्तृत और मददगार कार्यशाला है। कुशल प्रेरणा और निर्देशन के मातहत बाहर जीवन की अनंत प्रयोगशाला अनुभव और प्रयोग के लिए खुली हुई हैं। इस मामले में स्कूल मास्टर ध्वंसावशेष मात्र है। यहां आकर अपने व्याख्यान मंच पर खड़ा होकर वह छात्रों की अगुआई नहीं करता। यहां छात्रों को अंकपत्र और सनद देने या रोक लेने की ताक़त से धमकाना बेकार है। यहां छात्रों के पीछे अपनी उचित जगह चुनने को मज़बूर है। वह घड़ी दिखा सकता है, सलाह दे सकता है, प्रेरणा प्रदान कर सकता है, ख़ुद छात्र बन सकता है लेकिन रास्ते में

छाती अड़ाकर खड़ा नहीं हो सकता। प्रकृति स्वयं सर्वोत्तम शिक्षक है और छात्र के अवलोकन की क्षमता और शक्ति के मुताबिक़ उसे वरदान देती चलती है। यहां जब छात्र असफल होता है तो अध्यापक भी असफल होता है। यहां छात्र की असफलता का दोष उसकी अंतर्निहित अक्षमता के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता।

बहिर्जगत् के निम्नलिखित शिल्प छोटे बच्चे आसानी से सीख और इस्तेमाल कर सकते हैं। इनसे आर्थिक फ़ायदा होगा, बच्चों का जीवन से निकट संपर्क बना रहेगा और इन शिल्पों का पारिवारिक और सामुदायिक जीवन में उपयोग भी किया जा सकता है–

- मुर्गी पालन, अंडा सेने के लिए मुर्गी बैठाना।
- ईंधन की देखभाल और जल प्रदायन।
- बीज सुरक्षित रखना, खाद डालना और वृक्षारोपण।
- फूल और सब्ज़ी की खेती।
- जल निकासी और सिंचाई, लकड़ी काटना और जंगल की सफ़ाई।

जैसे–जैसे बच्चे की क्षमता बढ़ने लगती है, उसका अनुभव विस्तृत होने लगता है, तब बच्चे को स्वभावतः अपने शिल्प का ऊंचा व्याकरण सीखने की ज़रूरत पड़ती है। ताकि उसका अवलोकन और अधिक सटीक हो, उसका अनुमान और अधिक सही हो, उसका ज्ञान अधिक फलप्रद हो। इसी समय उसे अपने ही जैसे खेतों पर काम करनेवाले सहकर्मियों के विचारों और अनुभवों से संपर्क की इच्छा होती है जिनके संघर्ष और दृष्टिकोण किताबों में लिखे जाते हैं। इस मामले में किताबों के पीछे आंख मूंदकर चलना लाभदायक नहीं होता, बल्कि अपने सहकर्मी और मित्र ही मानवीय ज्ञान के नवीन और विस्तृत क्षेत्रों की सैर कराते हैं।

भारत में ग्रामीण बालक पहले से ही गाय चराना, उसके दानापानी जैसे पारिवारिक कर्तव्यों और सुविधाओं में भाग लेने का आदी होता है। उसके घर की चहारदीवारी के भीतर ही अगर ठीक–ठाक छोटा सा बगीचा भी हो तो इससे अनुभव के ज़रिए बेहतरीन और विस्तृत शिक्षा का आधार मिल जाता है। इसीलिए शिक्षासत्र में सबके पास ज़मीन का एक टुकड़ा होगा। वही बालक बालिकाओं, दोनों के लिए अध्ययन, लेखन और गणित का सबसे बड़ा आधार होगा।

शुरू से ही बच्चों को यह महसूस करना चाहिए कि ज़मीन का यह टुकड़ा उनके खेल का मैदान और प्रयोगशाला, दोनों है। वहीं अपने प्रयोग संचालित करेंगे और किसी निश्चित लाभकारी फ़सल की बुआई, देखभाल और कटाई का काम करेंगे। इस व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक के कक्षा का कमरा और प्रयोगशाला अपनी तय जगह से हट जाते हैं। अब विद्यार्थी के पास ज़मीन का टुकड़ा, शेड और कार्यशाला हैं। बहीखाता दुरुस्त रखा जाएगा, रपट और आय–व्यय का विवरण लिखा, देखा और सुधारा जाएगा। इसमें अत्यंत रुचिकर ढंग से साहित्यिक प्रशिक्षण होगा। ज़मीन की उत्पादकता का अध्ययन भूविज्ञान होगा। चूना और विभिन्न प्रकार की खादों, छिड़काव और कीटनाशकों का प्रयोग रसायनविज्ञान होगा। औज़ारों, पंपों, ज़मीन से पानी निकालना और तेलचालित इंजनों का प्रयोग भौतिकी होगा। पौधों पर लगनेवाले कीड़ों (चींटी, सूंड़ी, कृमि) और बीमारियों (पत्तियों का ऐंठ जाना, मुरझाना या बैक्टीरिया के आक्रमण) की रोकथाम कीटविज्ञान होगा। चिड़ियों और बगीचों और फिर सारी दुनिया से उनके संबंधों का अध्ययन

पक्षीविज्ञान होगा।

शिक्षासत्र में प्रकृति–अध्ययन जीवन से कटा कोई अमूर्त विषय न होगा, न ही शहरों में स्थित शिक्षाबोर्डों की मांग से मुताबिक़ ढाला जाएगा जो वहीं बैठे–बैठे अपनी निर्धारित पाठ्यपुस्तकों के अनुसार प्रश्नावली भेजते और परीक्षा लेते हैं, अपने परीक्षा परिणामों के हिसाब से रेवड़ी बांटते रहते हैं। वस्तुगत जीवन में रातभर बच्चे को खटमल, पिस्सू से जूझना पड़ता है, मियादी बुखार, हैजा और चेचक के कीटाणुओं से लड़ना पड़ता है। इसी के साथ प्राकृतिक शक्तियां उसके पेड़–पौधों और जीविकाओं के साधनों पर आक्रमण करती रहती हैं। इसीलिए प्रकृति–अध्ययन जीवन के साथ प्रकृति के संबंध पर रोज़मर्रा के अनुभवों का अध्ययन होगा।

यों ही हम लोग मानवीय सेवा और नागरिक भावना के क्षेत्र में मानव कल्याण के लिए चक्कर काटते रहे हैं, इसकी सुविधाएं और ज़िम्मेदारियां उठाते रहे हैं। थोड़े से व्यावहारिक प्रशिक्षण और अनुभव के साथ बच्चों की सक्रियता से ग्रामीण भारत की 75 प्रतिशत शारीरिक बीमारियां कुछेक महीनों में दूर की जा सकती हैं। बच्चों में अनुभव से ज्ञान ग्रहण करने, प्रयोग करने और ठोस तथ्यों से सीखने की ललक होती है। इन गुणों के कारण स्वभावतः वे तुरंत ही प्रौढ़ लोगों की शिक्षा के कारण बन जाते हैं। प्रौढ़ जन पारिवारिक ज़िम्मेदारियों और रोटीपानी के चक्कर में प्रयोग का साहस नही कर पाते हैं। वर्षों से कठिन संघर्ष और मेहनत के चलते उन्होंने प्रयोग के प्राथमिक औज़ार (फलप्रद कल्पना शक्ति) को ही संभवतः खो दिया है।

यह एक तथ्य है कि हमारे पड़ोस के गांवों के बच्चों के ज़रिए ही नवजीवन और आशा की बेल चढ़ी। पिछली दो पीढ़ियों से ये गांव निराशा के दलदल में खो गए थे। हमने गांव के पुजारी को तीन 'आर' का अभ्यास जारी रखने दिया। उनके शिष्य अप्राकृतिक बंधनों में अपने दंडाधिकारी की मरज़ी पर बंधे पड़े रहे। गांव के लोगों को प्राथमिक चिकित्सा की ज़रूरत थी। उसी के ज़रिए हमने अभिभावकों का विश्वास जीता। बच्चों ने हमारे साधारण खेलों में मज़ा लिया। इस तरह उनकी श्रद्धा अर्जित की गई।

गांव में आग लगी तो उसे बुझाने का असंगठित प्रौढ़ों का प्रयास निष्फल रहा। उसी से बच्चों का अग्निशमन प्रशिक्षण पैदा हुआ। फिर अभ्यास, अनुशासन और आपात्काल में नेता की बात तुरंत मानने के फ़ायदे समझ में आए। गांव का नब्बे प्रतिशत हिस्सा मलेरिया की चपेट में था। जीवन की इसी ज़रूरत के तहत वस्तुतः गांव का पूरा भूगोल समझा गया। गांव का नक़्शा बना, तालाब, रिहाइश, गड्ढ़े, नाले देखे गए, पानी की निकासी के लिए नालियां खोदी गईं। कोई रसायनशास्त्र नहीं, कोई जंतुविज्ञान नहीं, कोई शरीरविज्ञान नहीं, बल्कि एनोफिलीज मच्छर के स्वभाव का अध्ययन, तालाबों में किरोसीन तेल डालना, बुखार के मामलों का पंजीकरण और स्वास्थ्य–बही को दुरुस्त रखना जैसे सीधे–सादे उपाय ही काम आए।

कोई स्थानीय मेला था। उसकी निःशुल्क सुरक्षा की समस्या थी। हमारे लड़कों में अभी बच्चे ही थे। उन्होंने यह ज़िम्मेदारी ली। काम था– पाखाने खोदना और लगातार उनको देखते रहना, बैलगाड़ियों को ठीक जगह रखवाना, जल के साधन की रक्षा करना और रोज़ सुबह पूरे इलाके की सफ़ाई। प्राथमिक चिकित्सा, सहानुभूति, देखभाल, निरीक्षण और सतर्कता के लिए लोगों की ज़रूरत थी। लगातार हर काम पर ध्यान देना था, ख़ुद पृष्ठभूमि में रहना तथा प्ररेणा और प्रोत्साहन प्रदान करते

रहना था। इसी से पड़ोसी गांवों के नौजवानों में अपने गांव की रक्षा और देखभाल ख़ुद करने का आंदोलन पैदा हुआ। फिर जो पैसा इससे बचा उसे स्वास्थ्य, शिक्षा और नागरिक सेवाओं के और उन्नत स्तर के महत्त्वाकांक्षी प्रयोगों में लगाया गया।

ताज़ी सब्ज़ियों के अभाव में गोबर की खाद के नुक़सानदेह विनाश को देखकर ही घरेलू बागवानी और घर की चहारदीवारी के भीतर ही सब्ज़ी उगाने का चलन शुरू किया गया। नई फ़सलों की खेती का काम इसलिए सफल न होगा, क्योंकि ऐसे किसान ही नई चीज़ों से खेलते रहते थे जो कोई काम ठीक से न कर पाते। गंभीर और कुशल किसान परिणाम की प्रतीक्षा करते थे। दूसरी तरफ़, जब बच्चे कोई काम न कर पाते तो अभिभावक ज़्यादा परेशान नहीं होते थे। वे सोचते, बच्चे आख़िर बच्चे हैं। लेकिन अगर कहीं वे सफल हो गए तो उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति लोगों में थी। इसी तरह, बच्चों ने ख़ुद नए स्वास्थ्य, नए जीवन और नई स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया।

कार्यशाला से बाग, बाग से खेत, खेत से फार्म और फार्म से पासपड़ोस। मानो भ्रमणतीर्थ और खुले आसमान तले डेरा, इसी तरह हम जीवन के विस्तीर्ण मैदान में फैलते रहे। उदाहरण के लिए, यहां से सिर्फ़ दो मील दूर हमारे नित्य प्रति के जीवन से जुड़ी विभिन्न तरह की गतिविधियां चलती रहती हैं। हम उन्हें अनायास ग्रहण करते हैं और अपने शैक्षिक कार्यक्रम में उन्हें शामिल नहीं करते। वे हैं

डाकघर और तारघर;

पुलिस थाना और स्थानीय क़ैदखाना;

क़ानूनी अदालत और स्थानीय दवाखाना;

रेलवे स्टेशन और गोदाम;

धान और तेल की मिल;

ईंट का भट्ठा;

लुहार और बढ़ई;

बढ़ईगिरी और लकड़ी की टाल;

मिट्टी के बरतन बनाने का काम, तांबा और पीतल का काम;

कुटीर बुनकरी उद्योग;

घड़ीसाज और सुनार; और

मोची और दर्जी ।

इनमें से प्रत्येक में किसी कला, विज्ञान अथवा व्यवसाय का कोई तत्त्व शामिल है, औज़ारों और लोगों से काम लेना सीखना है। इनमें से प्रत्येक कार्य कल्पना की गति के लिए, स्वस्थ प्रतियोगिता के बीजारोपण के लिए, रचना और अनुकरण के लिए, यहां तक कि भविष्य में गंभीर प्रशिक्षण के लिए विस्तृत क्षितिज खोल देता है। जनसुरक्षा, दंड और अनुशासन के मौजूदा तरीक़ों के साथ परिचय और प्रयोग के ज़रिए ही कानून की मौजूदा भूलभुलैया में कोई राह दिख सकती है। फिलहाल तो क़ानून जर्जर परंपराओं और रूढ़ियों के ही बंधन में जकड़ा हुआ है। उचित निर्देशन और प्रेरणा के मातहत घरेलू स्कूल इस तरह के प्रयोगों के लिए यथोचित और स्वाभाविक प्रयोगस्थली है।

अगर संस्थान बनाने के लिए संस्थान बनाने की कोशिश की जाए तो उसका एकमात्र परिणाम बच्चों का जीवन से अलगाव होगा। अगर शिक्षा का कोई मतलब है तो उसमें निश्चित ही ऐसे प्रावधान शामिल होने चाहिए कि बच्चा वयस्क जीवन के प्रत्येक चरण का भ्रूणावस्था में अनुभव कर सके। पाठशाला

ज्ञान सीखने या सुरक्षित–संरक्षित विकास की प्रयोग भूमि मात्र नहीं होती। इसकी बजाए पाठशाला में व्यावहारिक अर्थशास्त्र और आत्मरक्षा, आत्मानुशासन और स्वशासन, आध्यात्मिक अमूर्तन और मानव कल्याण की दुनिया में आत्माभिव्यक्ति का जोख़िम उठाना सिखाया जाना चाहिए।

अड़ोस–पड़ोस की मदद के बिना इस कार्य से बच्चे को वंचित करने का मतलब है, उसे अपने घर से सबसे बड़े विशेषाधिकार से वंचित करना, जहां कुछ काम वह अनायास करता है। अनेक विद्यालय तो इस काम के लिए मौजूद ही हैं कि उन्हें स्वयं और अपने साथियों की मदद के विशेषाधिकार से वंचित कर दिया जाए, कि उनमें अस्वस्थ प्रतियोगिता की अस्वाभाविक वृत्ति बढ़ाई जाए। इसी तरह की आत्मकेंद्रित संस्थाओं से दुनियाभर में मतभेद और धार्मिक अंधता के ग्रहित कीटाणु फैलते हैं। इन संस्थाओं को मुख्यतः पढ़ाई और खेल में अपनी ही सफलता, छात्रों की संख्या और भवन की विशालता की अपनी ही समृद्धि की चिंता रहती है। इसी नाते वे दूसरी संस्थाओं से होड़ करती हैं। दूसरी संस्थाओं को भी अपनी ही चिंता है। फलतः संकीर्णतावाद, राष्ट्रवाद, स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद और निजीवादी दावेदारी की दूषित भावना फैलती है। परिणाम होता है आपसी मनमुटाव और धार्मिक कट्टरता।

घरेलू स्कूल विस्तार पाते ही झट जीवन के संपर्क में आ गया। मौसम विज्ञान में फ़सलों के उत्पादन के साथ मौसम के संबंध का अध्ययन हो जाता है। अगल–बगल के स्थानीय उद्योगों और शिल्पों, रीति–रिवाज़ों और धार्मिक त्योहारों, संगीत और नाटक की परंपराओं, ख़ासकर सामाजिक गठन के रूपों से संबंधित आंकड़ों की जांच इतिहास का अध्ययन बन जाता है। इसी के तहत हमारा सरकारी उद्यम भी आता है, जिसके विकास की गति धीमी है, लेकिन वो भविष्य के विकास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसी आधार पर देहाती जीवन में नवजागरण संभव है। यह नवजागरण अतीत की क़ीमत पर नहीं आएगा बल्कि पुराने अनुभवों के ख़ज़ाने पर आधारित होगा और साझा उद्देश्य के लिए संगठन में अभिव्यक्त होगा।

इस प्राचीन सभ्यता को नई शक्तियों और साधनों ने अचानक ग्रस लिया है। उनके प्रभाव से यह सभ्यता तेज़ी से नष्ट हो रही है। एक बार अतीत की धरोहर को प्रकाशमान कर दीजिए, एक बार उत्साह को गति दीजिए, एक बार नौजवानों में प्रयोग करने की इच्छा जगा दीजिए तो नई सुबह अवश्य होगी।

अब तक अतीत में हमारी शिक्षा ने प्रकृति के बुनियादी नियम, जीवनचक्र की उपेक्षा की है। जहां प्रकृति विकासमान बालक के मां का दूध पीने का समय निरंतर कम करती जाती है, वहीं हम स्कूल, कॉलेज के ज़रिए बालक की परनिर्भरता का समय बढ़ाते जाते हैं। पौधे के बीज या अंडे में ज्यों ही मां को मिलनेवाला आहार समाप्त हुआ, उसकी जड़ों को ज़मीन के नीचे, खोज और प्रयोग करते हुए, तनों के ऊपर आसमान में पत्तियां फेंकते हुए फैलते जाना चाहिए। अंडे से निकलनेवाले बच्चे को अकेले अपने भोजन की खोज में निकल जाना चाहिए। प्रकृति में शुरू में ही छोड़ देने, बाहर फेंक देने की एक प्रवृत्ति होती है। यह उस समय की तैयारी होती है जब जीव किसी बड़े आत्मबलिदानी कृत्य में अपनी संपूर्ण ऊर्जा लगा सके, एक ऐसे काम में अपने आपको झोंक सके जिसका, हो सकता है, उसे कोई प्रत्यक्ष लाभ न मिले।

हम ऐसा नहीं मानते कि इस घरेलू स्कूल को शुरू से स्ववित्त पोषित होना चाहिए। यह तो प्रकृति के अपने नियम को अपवित्र करना होगा। लेकिन

इसके चलते जहां तक उसकी कार्यक्षमता अनुमति प्रदान करती है, बालक को स्वयं अपनी सहायता के लिए काम करने के विशेषाधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। हां, उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास और आनंद की ज़रूरतों को ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिए। जब तक घरेलू स्कूल का ध्येयवाक्य 'विकास के लिए स्वतंत्रता' है, इस बात का कोई डर नहीं कि बालक से उसकी क्षमता से अधिक काम लिया जाएगा।

विकास के लिए स्वतंत्रता, प्रयोग, उद्यमशीलता और साहस, सब कुछ कल्पनाशक्ति पर निर्भर है। यह प्रकृति का सबसे बड़ा वरदान है, मस्तिष्क की वह क्रिया है जो सभी प्रकार के विकासों के मूल में है। कल्पनाशक्ति को उन्मुक्त करना, उसे पंख लगा देना, 'दिमाग़ के बंद दरवाज़ों को खोल देना; किसी मनुष्य के तईं दूसरे मनुष्य की इससे महत्त्वपूर्ण कोई सेवा नहीं हो सकती। शिक्षासत्र के निरीक्षक को हमेशा इस कर्तव्य के लिए एकाग्रचित्त रहना होगा। कल्पनाशक्ति वह वरदान है जो मनुष्य को भोजन, शिकार और मैथुनरत पशु जगत् से विशिष्ट बनाती है, अलगाती है और अलादीन के चिराग की तरह उसे हाथों में अपनी मनचाही दुनिया बना लेने की ताक़त दे देती है।

शिक्षा की दुनिया के सभी टकरावों में कल्पना और अनुशासन के बीच का टकराव सर्वाधिक कटु और दीर्घकालिक है। इसमें एक तरफ़ तो बालक छात्र है जिस पर अक्सर आत्मरक्षा की कोई ज़िम्मेदारी नहीं होती, आजीविका चलाने की कोई चिंता नहीं होती, अपने दिमाग़ की उर्वरक कल्पनाशक्ति की तुष्टि के लिए संपूर्ण स्वतंत्रता की चाह होती है। इन कल्पनाओं को कोमल पौधे की तरह आसानी से कुचला या तोड़ा जा सकता है। वह अक्सर अतार्किक लगने वाले अनुशासन के बंधनों से छुटकारा पाना चाहता है। कुल मिलाकर सामान्यतः अराजकता का क़ानून को वह मानना चाहता है। इसका अर्थ है कि कोई शासन वह नहीं चाहता। दूसरी तरफ़ अभिभावक और अध्यापक हैं। वे दुनियावी लोग हैं। दुनिया की मेहनत और कठिनाई का उन्हें अनुभव है। कानून और व्यवस्था, रोज़मर्रापन और लीक पर चलना उन्हें पसंद है। वे जीवनसंघर्ष में ज्ञातपक्ष के प्रतिनिधि हैं। व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए संघर्ष ने उनकी कल्पनाशक्ति को बहुत पहले कुचल दिया है। इसीलिए स्वयं अनुभव हासिल करने की परेशानियों से बालक को बचाने के लिए वे कटिबद्ध होते हैं।

अगर बच्चे को विकास की स्वतंत्रता देनी है तो उसे अपने जीवन को नियमित करने की स्वतंत्रता भी देनी होगी। उसे दख़लंदाज़ी और निरीक्षण से मुक्त करना होगा। लेकिन इस तरह की अराजकता से ऐसे विकास की अनुमति होगी जो समूचे ढांचे के लिए ख़तरा पैदा कर देगा। सभी समस्याओं में अधिकतम स्वतंत्रता की रक्षा के लिए न्यूनतम अनुशासन की खोज सबसे टेढ़ी समस्या है। अपनी सीमाएं ख़ुद तय करने और अपने तईं अनुशासन ख़ुद तलाशने के लिए बच्चे को प्रोत्साहित करना इस पर निर्भर है कि बच्चे की क्षमता में हमें कितना विश्वास है। इस काम के लिए हमारे भीतर सच्चा साहस होना चाहिए। बच्चे को ग़लतियां करते देखते रहने और फिर भी चीज़ों को ठीक कर देने के लिए हस्तक्षेप से अपने को दूर रखने का साहस होना चाहिए।

निस्संदेह, कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां नियम–क़ानून बनाना ही उचित है। गृहशिल्प शीर्षक के अंतर्गत उल्लेखित काम और कुछ अन्य काम जो आत्मरक्षा से गहरे जुड़े हैं, प्रत्येक नागरिक को प्रतिदिन करना चाहिए। उनके उचित संपादन पर ही व्यक्ति और समुदाय दोनों की समृद्धि निर्भर है। उसमें शामिल

हैं : भोजन बनाना, भोजन करना, कपड़ों की धुलाई, स्नान, झाड़ू लगाना, एक शब्द में कहें तो शरीर और घर की देखभाल। अगर शरीर स्वतंत्र नहीं है तो दिमाग़ के लिए उड़ान भरना मुश्किल है। अतः एकदम अराजकता की राह में शरीर स्वयं एक बड़ी बाधा है। ये कार्य, कड़े अनुशासन के तहत जितनी तेज़ी से और बेहतर ढंग से निबटाए जाएंगे, स्वतंत्रता का समय उतना ही बढ़ता जाएगा। इस तरह के अनुशासन की ज़रूरत समझने भर की सामान्य बुद्धि बच्चों में होती है और वे अनुशासन भंग की स्थिति में दंड के नियम भी स्वयं बना सकते हैं।

दूसरी तरफ़, कार्यशाला चलाने का उद्देश्य होना चाहिए, थोपी हुई मनाहियों से मुक्ति। क्योंकि शिल्प में दक्षता के अपने मानक और अनुशासन के अपने स्रोत होते हैं। अगर प्रयास जीवन से गहरा जुड़ा है तो सृजन की क्षमता की संपूर्ण अभिव्यक्ति के बग़ैर बच्चा संतोष प्राप्त ही नहीं कर सकता। ये प्रयास अक्सर सहकारी होंगे, अगर व्यक्तिगत हुए तो भी यह बात लागू होगी। सबसे पहले तो बच्चे का स्वाभिमान, फिर समूह की राय और फिर इन दोनों के साथ बाज़ार की ज़रूरतें, ये सब मिलकर पर्याप्त अनुशासन पैदा कर देंगे।

कितनी ही बार हम बच्चे की कल्पनाशक्ति को भयवश कुचल देते हैं। इस तरह तो वह कभी बड़ा हो नहीं पाएगा। जोसेफ के भाइयों की तरह हम भी प्रतिभाशाली, स्वपनद्रष्टा लोगों को नापसंद करते हैं। ये स्वप्नदर्शी हमारे बंधे–बंधाए अस्तित्व में हलचल पैदा कर देते हैं। लेकिन ये कल्पनाशील जन ही हैं जिनके प्रति आविष्कारों की प्रगति के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए। वे विषय का आवश्यक व्याकरण समझते हैं, लेकिन अज्ञात की दुनिया में छलांग लगाने, स्वप्न देखने और अपनी मनचाही दुनिया की कल्पना करने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। मनुष्य मानवीय ज्ञान के समुद्र में अराजक असंतोष से दिशा प्राप्त करता हुआ अपनी उर्वरक कल्पनाशक्ति के झोंकों के सहारे नित नए द्वीपों की खोज करता रहा है और निरंतर करता जा रहा है। लेकिन बच्चे को हम इस बात के लिए मज़बूर करते हैं कि अपने अनुभवों से यात्रा का जो नक़्शा हमने तैयार कर रखा है, उसे जब तक वह कंठस्थ न कर ले, जीवन में अपनी यात्रा शुरू ही नहीं कर सकता। तब उसके जीवन की छोटी सी नाव पाठशाला में लंगर डाले खड़ी रहती है। पिटी–पिटाई लीक, कृत्रिमता और कल्पनाहीनता की ख़ामोशी में, हम सोचते हैं, उसे सुख प्राप्त होता रहेगा।

अपनी क्षमताओं के संभवतम विकास में ही मनुष्य सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव करता है। उसे इतनी दक्षता हासिल होनी चाहिए कि आत्मरक्षा को लेकर वह चिंतित न रहे। अपने पड़ोसी के दुःखों को समझने और उसे सहानुभूति की क्षमता के ज़रिए ही वह मानव समाज के एक सम्मानित सदस्य और एक ज़िम्मेदार नागरिक की तरह कार्य कर सकता है। संसार से अलग होने की भावना के विकास के साथ ही समय आने पर वह अमूर्तन की दुनिया में भी सृजनात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता के स्वाभाविक विकास का मार्ग पा जाता है। ज़ाहिर है कि अमूर्तन की यह दुनिया आध्यात्मिक सत्य की दुनिया में भी है, कम से कम व्यक्ति, नागरिक और सृजनकर्ता के बतौर आत्माभिव्यक्ति के सर्वोत्तम तरीक़े को प्राप्त कर लेना और निरंतर वर्तमान विकास की ख़ुशियों और परेशानियों का रोज़ अनुभव करना ही सच्ची स्वतंत्रता है।

कोई शिक्षा जो बच्चे के सामने स्वयं अपने लिए इन खोजों के अवसर नहीं खोल देती, उसमें कहीं कुछ बुनियादी रूप से गड़बड़ है। कभी–कभी शिक्षा को औज़ार कहा जाता है और इसे कारख़ाने की

प्रक्रिया की तरह समझा जाता है। संभवतः शिक्षा का बड़ा हिस्सा ऐसा है भी। जैसे मशीन कच्चे माल को मनचाहे उत्पाद में ढाल देती है, उसी तरह बच्चे के साथ किया जाता है। लेकिन शिक्षा का उद्देश्य विकास भी है, जिसके माने हैं जीवन। इसीलिए पाठशाला जीवन का वह चरण होनी चाहिए जहां बच्चा अनुभव के ज़रिए स्वतंत्रता हासिल करना शुरू करता है। बच्चे को स्वतंत्रता की शिक्षा देने के लिए कोई प्रयास न करने का मतलब है उसे जीवन से वंचित कर देना।

घर और कार्यशाला, दोनों ही चहारदीवारी के बाहर, प्रकृति के भी ख़ज़ाने के बाहर, मनुष्य की अपनी एक दुनिया हो सकती है। वहां अराजकता ही विराजती है। यह अमूर्तन और भावावेगों की दुनिया है। अपने हाथों की मेहनत के सहारे अपनी शक्ति में आत्मविश्वास अर्जित कर, मानव समुदाय में जीवन बिता लेने की क्षमता अर्जित कर बच्चे और वयस्क, दोनों इस दूसरी दुनिया में प्रवेश करने को स्वतंत्र होते हैं। यहां यात्री अपनी सुविधा के लिए जो व्याकरण बनाता है उसके सिवा कोई व्याकरण नहीं, कोई नियम नहीं, कोई नियंत्रण नहीं।

कम ही बच्चे होंगे जिनके लिए अमूर्तन और भावाभिव्यक्ति की यह दुनिया, भावनओं का यह संसार, सृजनात्मक उद्यम का यह साम्राज्य एक वास्तविकता न हो। इस दुनिया की सिद्धि आपमें है, इसका कोई आर्थिक या बाहरी उद्देश्य नहीं। हम बच्चे को उत्प्रेरित कर सकते हैं, हम उन्हें उत्साहित कर सकते हैं, सहानुभूति, साधन और अवसर उपलब्ध करा सकते हैं। लेकिन यदि बच्चे को विकास की स्वतंत्रता देने की हमारी नीयत में कोई खोट नहीं हो तो हमें उन पर अपने नियम, क़ायदे–क़ानून और नियंत्रण ज़बरदस्ती न थोपने की सावधानी बरतनी चाहिए। बचपन की भावनाएं, कल्पनाशक्ति के अपने वरदान की तरह ही जिधर मार्ग पाती हैं, वह बह निकलती है। हवा की तरह वह आती हैं और जाती हैं, मानव निर्मित कोई क़ानून नहीं मानतीं। स्वतः स्फूर्त होना ही उनका धर्म है। इसीलिए बच्चे को गीत, संगीत, कविता और अगर वह चाहे तो नाटक और नृत्य की दुनिया में यात्रा करने की पूर्ण आज़ादी होनी चाहिए। उसे रंग, रेखा या चित्र में अपने विचारों की अभिव्यक्ति का लक्ष्य प्रकट करने देना चाहिए। उसे एकांतिक चिंतन और ध्यान के असीम क्षितिज पर भ्रमण करने देना चाहिए, भीतर एक छोटी सी आवाज़ उसका साथ देने के लिए तो है ही।

बच्चे को हम धर्म की शिक्षा दे सकते हैं, यह सोचना उतना ही तर्कपूर्ण है जितना यह सोचना कि हम एक आर्किड को बड़ा होना और मनपसंद फूल खिलाना सिखा सकते हैं। हम उपजाऊ ज़मीन दे सकते हैं, अच्छी उत्प्रेरक खाद, थोड़ा पानी और उचित तापमान ही उपलब्ध करा सकते हैं; ताकि प्रकृति अपना काम बख़ूबी कर सके। जीवन का नियम है विकास। विकास के सारे सिद्धान्तों को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा, पेशतर इसके कि हम यह तय करें कि पौधे के लिए क्या ठीक होगा। विकास के लिए अतिरिक्त प्रयास करने, उसे विकसित होने के लिए मज़बूर करने, बाहर से जीवन थोपने की कोशिश करके हम उसे अवरुद्ध और नष्ट कर देते हैं।

जीवन को जीवन होने के लिए भरपूर जिया जाना होगा। अध्यापकों और अभिभावकों द्वारा बच्चे के साथ किए गए उत्पीड़न और उन्हें उनके हक़ से वंचित रखने के पाप, छड़ी और डंडे के लागू किए गए क़ानून के निशानात कम से कम तीन चार पीढ़ियों तक स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

★ अनुवाद, गोपाल प्रधान; रवींद्रनाथ का शिक्षा दर्शन; ग्रंथ शिल्पी से साभार

कक्षा में किताबें

★ पार्वती बागोरा

रा.प्रा.विद्यालय उपली ओडण (नाथद्वारा) को विद्या भवन सोसायटी उदयपुर के द्वारा राजसमन्द डाइट नाथद्वारा के लेब एरिया में कक्षा पुस्तकालय के अन्तर्गत चुना गया है। सत्र 2009–10 में स्थानीय विद्यालय में विद्या भवन, उदयपुर द्वारा कुछ पुस्तकें उपलब्ध करवाई गई हैं। कुछ पुस्तकें स्थानीय विद्यालय स्तर पर क्रय की गई हैं। इन पुस्तकों को कक्षागत पुस्तकालय में बच्चों के लिए रखी गई हैं। उनमें से कुछ पुस्तकों जैसे– 'नाव चली', 'छुटकी गिलहारी', 'आदर्श कहानियां' में से रोचक कहानियां

★ रा.प्रा.वि. ओडण, जिला राजसमंद में पढ़ाती है।

व कविताएं मेरे स्वयं द्वारा बच्चों को सुनाई गई जिससे बच्चों को किताबों की ओर विशेष आकर्षण हुआ। और धीरे–धीरे बच्चों ने खाली कालांश में इन पुस्तकों को पढ़ना शुरू किया। मैंने सर्वप्रथम 'नाव चली' पुस्तक में दी गई कहानी पर एक कविता का निर्माण किया व बच्चों को सुनाई जो उन्हें पसन्द आई

नाव चली भई नाव चली
कितनी सुन्दर नाव चली
चूहा एक छिलका ले आया
चूजा एक पत्ता ले आया
गुबरैला एक धागा लाया
चींटी एक सरकण्डा लाई
सबने मिलकर नाव बनाई
एकता की नाव बनाई
दिमाग़ की एक नाव बनाई
नाव चली भई नाव चली

इसके बाद बच्चों ने अपनी रुचि दिखाई व बारी–बारी से प्रत्येक किताब को पढ़ना शुरू किया तथा बीच–बीच में मेरे द्वारा उचित मार्गदर्शन किया जाता रहा। बच्चों ने 'चांद पर चला हलीम' पुस्तक पढ़ी और उसे याद किया। जब मैंने पर्यावरण में 'सौर परिवार' वाला पाठ पढ़वाया और चांद के बारे में मैं जानकारी दे रही थी तो कुछ बच्चे बीच में ही बोल पड़े– ''हां मैडम हमने 'हलीम चला चांद पर' छोटी किताब में पढ़ा है कि चांद पर पेड़ और मनुष्य नहीं हैं। इससे मुझे अच्छा अनुभव हुआ कि बच्चे सीख रहे हैं।

एक दिन मैंने 'छुटकी गिलहरी' वाली कविता सुनाई जिसमें एक छोटी सी भोली सी गिलहरी द्वारा पर्यावरण की रक्षा का संदेश दिया गया है। इसी संदर्भ में मैंने गिलहरी की एक और कहानी सुनाई जिसमें श्रीराम की लंका पर चढ़ाई के समय गिलहरी अपना सहयोग प्रदान कर रामजी की प्रिय बनी थी। इससे बच्चों में जीवों के प्रति प्रेम की भावना जागृत हुई और बच्चों ने गिलहरी के बारे में और अधिक जानना चाहा।

इसी प्रकार उक्त पुस्तकों में अंकित हस्तनिर्मित प्यारे–प्यारे व सुन्दर–सुन्दर चित्रों को देखकर बच्चों में चित्र बनाने की भावना जागृत हुई और बच्चों ने चित्र बनाना शुरू किया जिससे बच्चों में चित्रकला के कौशलों का विकास हुआ।

निर्णायक रूप में यह कहा जा सकता है कि इन पुस्तकों को पढ़कर बच्चों को बहुत अच्छा लगा। बच्चों को एक नया और सुन्दर संसार मिला जिसमें बच्चों ने प्यारे–प्यारे अनुभवों को अपनी निश्छल, बेदाग़, छोटी सी झोली में भर लिया तथा समय के साथ कभी भी इन अनुभवों को न खोने की ठान ली। बच्चों के मासूम, प्यारे व वास्तविक चेहरे पर इन अनुभवों को स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है जो पानी की तरह स्पष्ट है। बच्चे इन पुस्तकों के साथ अपने एक अलग संसार में लीन दिखे जहां पर वे कुछ भी हलचल पसंद न करते हो। ऐसा मैंने स्वयं महसूस किया।

कक्षा में डिक्शनरी

★ शहनाज़ डी.के.

हमारा विद्यालय बुनियादी विद्यालय होने के कारण हमारे यहां मेहमानों का आना–जाना लगा रहता है क्योंकि ऐसे विद्यालयों की संख्या भारत में कम है। इसलिए लोग इसके बारे में जानने को उत्सुक रहते हैं। पिछले वर्ष (2008) हमारे यहां एक अतिथि स्कूल देखने आए जो विदेश में अपना अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। उनकी रुचि बच्चों के साथ काम करने में थी और अंग्रेज़ी विषय से संबंधित कुछ

★ विद्या भवन बुनियादी माध्यमिक विद्यालय में शिक्षिका हैं।

गतिविधियां बच्चों के साथ करना चाहते थे। जब वे मेरी कक्षा चौथी में आए तो उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या बच्चों के पास डिक्शनरी है? मेरे मना करने पर उन्होंने पूछा कि क्या वे कभी डिक्शनरी का उपयोग करते हैं? मैंने कहा हां, कभी–कभी लाइब्रेरी से लाकर कुछ नए शब्द ढूंढ़ते हैं। पर ऐसा करने के लिए उन्हें डिक्शनरी बार–बार मिलती नहीं क्योंकि लाइब्रेरी में भी दो ही डिक्शनरी है। उन्होंने कहा अच्छा आप मेरी मदद करें तो हम बच्चों के समूह बना लेते हैं और दो डिक्शनरी से भी काम चला लेंगे। उन्होंने बच्चों को अलग–अलग तरह की गतिविधि करने के लिए दी और दो समूह को कुछ अंग्रेज़ी के शब्द डिक्शनरी में से ढूंढ़ने के लिए कहा। बच्चों की हमने मदद की और वे काम आसानी से करने लगे। सभी बच्चों को डिक्शनरी से काम करने में मज़ा आया।

उनके जाने के बाद मैंने सोचा कि बच्चों की डिक्शनरी में जो रुचि जगी है उसे कैसे बनाए रखा जाए कि वे इस कार्य का लाभ उठा सकें और उनकी अंग्रेज़ी में रुचि बढ़े व डर दूर हो। मैंने लाइब्रेरियन से बात की तो उन्होंने मेरी मदद करने के लिए सलाह दी कि मेरे पास दो पुरानी दीमक लगी डिक्शनरी है जिसका उपयोग बेझिझक बच्चे कर सकते हैं। फट भी जाएगी तो कोई बात नहीं। मुझे यह मंज़ूर था कि दीमक लगी डिक्शनरी ही बच्चों के लिए ले लूं। क्योंकि बच्चों के लिए नई डिक्शनरी मंगवाना संभव नहीं था। क्योंकि हमारे विद्यालय में गांव से आनेवाले बच्चों के माता–पिता उनके लिए इतना ख़र्च नहीं करते हैं कि वे उन्हें डिक्शनरी दिलाएं पाएं। बच्चों ने दीमक लगे पन्नों पर भी कई शब्दों के अर्थ ढूंढ़ लिए और अधिक रुचि से काम करने लगे। परन्तु पुरानी डिक्शनरी ज़्यादा दिन नहीं चली और सारे पन्ने फटने लगे। मैंने एक बार फिर कोशिश की और प्रधानाध्यापिका से निवेदन किया कि मुझे कम से कम दो डिक्शनरी नई मंगवा दें। परन्तु फिर एक बार मुझे दो पुरानी डिक्शनरी दे दी गई कि जब तक नई मंगवाते हैं इससे काम चलाओ। फिर बच्चों ने दो पुरानी डिक्शनरी ले ली और लगातार उनकी रुचि अंग्रेज़ी के नए शब्दों में बढ़ने लगी। इसका प्रभाव क्लास लाइब्रेरी में दिखने लगा बच्चे अंग्रेज़ी की जिन किताबों से डरते थे उन्हें पढ़ने लगे, भले ही उनका उच्चारण ग़लत होता लेकिन वे डरते नहीं थे। नए शब्दों के अर्थ ढूंढ़ने लगे। अब कक्षा डिक्शनरी के लिए लड़ाइयां होने लगीं। सभी बच्चे पहले लेना चाहते थे। मैंने उन्हें अपनी बारी का इंतज़ार करना सिखाया जिसमें काफ़ी समय लगा। परन्तु धीरे–धीरे वे सीख गए।

अब वे बच्चे कक्षा पांचवीं में आ गए हैं। इस वर्ष भी उन्होंने अपना डिक्शनरी देखना जारी रखा है। इससे लगता है कि अब यह उनकी आदत बन गई है। वे अपनी क्लास लाइब्रेरी में और अधिक डिक्शनरी की मांग करने लगे। मैंने उन्हें कहा कि तुम अपने गुल्लक के पैसों से क्या ख़रीदते हो? उन्होंने कहा खिलौने, नए कपड़े, साइकिल आदि। क्या कुछ पैसे डिक्शनरी के लिए निकाल सकते हो? कुछ बच्चे एक साथ बोले हम अपने राखी के पैसों से नई डिक्शनरी ले आएंगे।

बातचीत बच्चों की

★ संजय बोल्या

विद्या भवन बुनियादी माध्यमिक विद्यालय रामगिरि मैं पिछले 12 वर्षों से बच्चों को पढ़ा रहा हूं। एक दिन मैं कक्षा 4 में गणित पढ़ाने के लिए गया तो बच्चों ने स्कूल परिसर के पास चल रहे निर्माण कार्य को देख कर मुझसे पूछा सर ये बाहर क्या हो रहा है? मैंने कहा नहर पक्की हो रही है। सर नहर क्यों पक्की हो रही है? इस तरह के प्रश्नों को जब मैंने सुना तो उनसे कहा यह तो आप को ख़ुद मामूल करना चाहिए। बच्चों ने कहा कि कैसे मामूल करें? तो मैंने कहा आप उन काम करनेवाले लोगों से स्वयं पूछो। तो उन्होंने कहा कि सर, डर लगता है। आप यदि साथ चलेंगे तो हम मालूम कर सकते हैं। इस बात पर पूरी कक्षा साथ जाने को सहमत हो गई। कक्षा तीन के बच्चों को इस बात के बारे में पता चला तो वो भी आने को तैयार थे। बच्चे नहर पर गए और उसको बनते हुए देखने लगे। वे काम करते हुए आदमियों को भी देख रहे थे। सब बच्चों को कारीगर और मज़दूरों से मिलाया गया तो वे उनसे आपस में बातचीत करने लगे। मज़दूरों व कारीगर के स्नेहपूर्ण व्यवहार ने बच्चों की झिझक तोड़ दी एवं कुछ ही देर में खुलकर बातें करने लगे बातों बातों में उन्होंने पता लगा लिया कि कारीगर नहर को पक्की कर रहे हैं जिससे ज़्यादा से ज़्यादा पानी फतहसागर में जाए। फतहसागर में जाने वाली यह लिंक नहर है। नहरों का काम सिंचाई विभाग के अन्तर्गत आता है यह बात वहां के इंजीनियर ने बताई। अंकल यह नहर यहां ऊंची

क्यों बना रहे हैं तो इंजीनियर का जवाब था यह स्कूल के पास की जगह है। अतः बच्चे गिर नहीं जाएं इसलिए यहां पर अधिक ऊंची दीवार बना रहे हैं। बच्चों ने कारीगर से फीता लेकर नहर की चौड़ाई नापी जो 4.8 मीटर थी। नहर की गहराई 2 मीटर थी एवं दीवार 2 फीट ऊंची बन रही हैं एवं नहर बनने के बाद रोड़ और चौड़ी हो जाएगी जिसकी लम्बाई 36 मीटर है। पहले यह 3.2 मीटर थी। कुछ बच्चों ने कहा कि हमारे घरों को बनाने में तो पीली मिट्टी काम में लेते हैं आप सीमेन्ट क्यों काम में लेते हैं। इस बात पर बच्चे आपस में चर्चा करते हुए कक्षा कक्ष में लौट आये।

आज उन्हें ज़्यादा मज़ा आ रहा था कुछ और प्रश्न वह दोनों शिक्षकों से पूछकर आपना समाधान कर रहे थे। ऐसा लग रहा था कि शायद गणित कक्षा कक्ष से बाहर निकलकर सिखाई जाए तो कितनी जल्दी सीख जाएंगें और गणित का डर भी समाप्त हो जाएगा।

★ विद्या भवन बुनियादी माध्यमिक विद्यालय, रामगिरि में गणित के शिक्षक हैं।

अनुभव

मैंने बपचन को जीया

★ सरन काला

अभी तक मुझे वो दिन याद है जब मुझे रूई और तकली लेकर सूत कातने की परीक्षा देनी पड़ी थी। जब मैं कक्षा तीन में पढ़ती थी, लास्ट की एक घंटी बजती थी। तब इस कालांश में हम अपने बस्ते से तकली, और रूई निकाल लेते। रूई को हाथ में लेकर तकली के ऊपर की कुन्डे में फंसाकर तकली घुमाते। रूई को खींचकर बारीक़ धागे की तरह ऊपर की ओर खींचते। तकली को बार–बार घुमाने से धागा बारीक़ हो जाता है। तकली से सूत कातते समय धागा बार–बार टूटने पर हम मदद के लिए अपने से बड़े साथियों के पास जाते। गांव से आनेवाले कई बच्चे ऐसी फुर्ती से कातते कि हम तकली की तरफ़ और उसके घूमने को आश्चर्य से देखते रहते। तकली केवल स्कूल की साथी नहीं थी वो तो घर जाकर, घर की पड़ोस के भी साथी थी। इस तकली ने हमें गांधीजी से जोड़कर रखा। जो शिक्षक इस कालांश को लेते थे वो हमेशा गांधीजी का उदाहरण देते। चरखे पर गांधीजी की ऊंगलियां कितनी तेज़ चलती हैं। कई बार चरखे पर प्रश्न पूछते। चरखे कितने प्रकार के होते हैं?, चरखा जब चलता है उसकी कैसी आवाज़ होती है?, चरखे के सुए की लम्बाई कितनी होती है? ढेरों प्रश्न खादी, सूत, रूई के बीच गांधीजी के इर्द–गिर्द ही घूमते। हमने प्रत्यक्ष में गांधीजी को देखा नहीं था। परन्तु मेरे छोटे से पहाड़ी शहर में कांग्रेस का चारों ओर बोलबाला था। मई का महीना आते ही हम उस दिन का इंतज़ार करते जब पंडित नेहरु गर्मियों की छुट्टियां बिताने दून वैली ज़िले के चकराता कैंट में आते थे। उनकी अचकन, चूड़ीदार पाज़ामा, टोपी, सादगी और सहजता से पूर्ण होती थी। कांग्रेस का बोल–बाला था इसलिए कह रही हूं क्योंकि ये ही एक क्षेत्र ऐसा था जहां दो पार्टियां, कांग्रेस और जनसंघ चुनाव लड़ती थीं। परन्तु चुनाव से पहले ही कांग्रेस निर्विरोध आ जाती। न वोट देने जाने का चक्कर न शोर मचाने का। बाज़ार के सभी व्यापारी धोती–कुर्ते और टोपी पहने दिखते। राष्ट्रीय त्योहार पर तो दूकानदार और सरकारी नौकारीवाले सभी शहर के चौक, बाज़ार में इकट्ठे होकर प्रभात फेरी निकालते। फिर झंडा फहराते। महात्मा गांधी के भजन गाते। नारे लगाते।

मेरे स्कूल की इमारत बड़ी सुन्दर थी। कहते हैं कि अंग्रेज़ों ने इस बिल्डिंग को बनाया था। बड़े–बड़े चीड़, देवदार, बांस, के पेड़ों से मेरा स्कूल घिरा हुआ था। कक्षा–कक्ष, स्कूल का वातावरण खुला, आकर्षक ख़ुशनुमा था। जहां बच्चे चारदीवारी के बाहर प्रकृति से सीखें। प्रकृति तो स्वयं चलकर मेरे स्कूल के वातावरण में समाई थी। पेड़ों को पहचानना, पौधों को उगाना, फलों को परखना तो हम घर से स्कूल जानेवाले रास्ते में ही सीख जाते थे। स्कूल को जाते समय हम अपनी–अपनी गायों और बछड़ों को चरने ले जाते और उनके स्वभाव से परिचित होकर गायों और जंगलों के महत्त्व को हम ज़ुबानी कह डालते थे। सर्दी इतनी थी इन पहाड़ों पर कि

★ विद्या भवन नर्सरी स्कूल की पूर्व शिक्षिका हैं।

गुरुजी कमरों में कम स्कूल की सीढ़ियों, कमरों की छतों पर बैठाकर धूप का सेंक देते हुए, प्रकृति को निहारने का खुला न्योता अपने आप हमारी झोली में डाल देते। सर्दी में सूर्य का जल्दी छिपना रात को ढेर सारे तारों से भरा आकाश हमें पहाड़ों पर देखने और शहर में कम तारे दिखने का अंतर हमें तुलना कराना सिखाता। रात के अंधेरे में जुगनू को पकड़कर अपले पल्लू में छुपाकर लाना, उसके पंख उठाकर लाइट कहां से आ रही है?, उसका निरीक्षण करने में हम इतनी विचित्र हरकतें करते कि पता नहीं कितने जुगनू बेचारे बिना मौत के मर जाते।

अतीत में सोचना वास्तव में कितना अच्छा लगता है। 'बस्ते का बोझ कम करो' आज ऊंची आवाज़ में बोलकर कम करने को कहा जा रहा है। मेरे बस्ते में तो आज से 55 साल पहले कभी बोझ नहीं था। मिट्टी के बर्तन बनाना, काग़ज़ की लुगदी बनाना और उसे आकार देना, धागों, ऊन की रस्सियां लपेटना, ऊंगलियों को लचीलापन देता था। मां की ठुकाई, आवाज़, सहयोग, घर के काम–काज का बंटवारा और व्यवहार की सीख ने मेरे व्यक्तित्व को कब निखारा मुझे मालूम ही नहीं चला। खाना खाने के पहले और बाद में बर्तनों को उठाने–रखने में छोटे–बड़े, गोल, लम्बे–चपटे, हल्के–भारी के अहसास ने अनकहे सवालों को हल करना सिखा दिया था। परिवार के सदस्यों के रिश्ते में मां, दादी–दादाजी ने बडे–छोटे के अंतर को सिखाते हुए सम्मान देना सहजता से सिखाया। त्योहारों के आते ही घर तो क्या पूरा आस–पड़ोस एक हो जाता। 'रामलीला' का कार्यक्रम मेरा सबसे प्रिय था। पहला नवरात्रा मतलब रामलीला शुरू...। घर में काम का बंटवारा इसलिए कि जल्दी काम निबटाकर रामलीला देखने जाना। रातभर रामलीला देखना। सुबह उठकर धनुष बनाना, एक–दो नहीं पूरा मोहल्ला क्योंकि एक रावण सेना– दूसरी राम की सेना बनती। रात की रामलीला का दोहरान दोपहर के बाद हमारी रामलीला में होता। यहां एक आश्चर्य की बात थी हमारी टोली में एक लड़का हकलाता था परन्तु रामलीला की चौपाइयां गाते हुए कभी नहीं हकलाता था। उसकी एक चौपाई पूरा होने पर हम ताली बजाकर उसका उत्साह बढ़ाते थे। अभ्यास हमारे सफल रहते। पुराने कपड़ों की ड्रेस बनानी, अस्त्र–शस्त्र बनाने, मुकुट सजाने में सृजनात्मकता का सुन्दर विकास हम टोली में सीख गए। रामलीला जब समाप्त होती तो हम बाद में भी उसे दोहराते–दोहराते क्रम में पात्र का आप रोल प्ले करना, पात्र कम होने पर उसका भी रोल प्ले करना वो भी बिना लिखे–पढ़े– बस बातचीत करते कहते कब पूरा रामलीला याद कर गए आश्चर्य है। रामायण की चौपाइयां तो कई दिनों तक गुनगुनाते रहते, उच्चारण में पूर्ण आत्मविश्वास, पात्रों से संवादों पर झगड़ना कि किस पर ये रोल अच्छा लगता है और क्यूं? हमारे अनुभवों को दर्शाता था। संवादों को पहले सुनना फिर कहना, बताना, सुनाना, कितनी गतिविधियों को सहज में विकसित करता जाता था।

शायद एक शिक्षिका के रूप में मेरा बचपन झांकता था। एक पाठ को कक्षा में मैं जब तक नाटक के रूप में नहीं खेलती तो मुझे पाठ का अन्त अच्छा नहीं लगता था। कहानी सुनाकर बच्चों को उस कहानी के पात्रों के रूप में बैठाकर कहानी दोहराना बच्चों के साथ मेरे खेल रहे। मेरे शिक्षिका के पेशे के दौरान शब्दों–संवादों को पुरानी पत्रिकाओं, मैग्ज़ीन फाड़कर, वाक्य बनाकर, कहानी का रूप देकर बच्चों के लिए अपनी रचना का जोड़–तोड़ करने का सुन्दर खेल हमने खोजा था। ये मेरे बचपन के स्कूल की देन ही थी।

कुदरत की गोद में सुकून के पल

विद्या भवन अपनी शुरूआत के दौरान से ही शिक्षा को अपने परिवेश और जंगल से जोड़कर दिया जाने का हिमायती रहा है। इसके लिए विद्या भवन में वन शाला के आयोजन की परिपाटी रही है। वन शाला केवल एक गतिविधि ही नहीं बल्कि इससे कहीं आगे बढ़कर यह एक विचार है। विद्या भवन की स्कूलों के बच्चे स्कूल की चहारदीवारी से बाहर निकलकर शिक्षा अर्जित करते हैं।

विद्या भवन आज भी प्रकृति की शिक्षा, प्रकृति से शिक्षा और प्रकृति के बारे में शिक्षा के विचार को न केवल अपनाए हुए हैं बल्कि इसके सशक्तीकरण की कोशिश भी कर रहा है। विद्या भवन ने हाल ही में एक 400 एकड़ की बीड़ में पर्यावरण शिक्षा का कार्यक्रम प्रारंभ किया है। उल्लेखनीय है कि विद्या भवन ने इस बीड़ को 1956 में डेयरी के लिए घास उपलब्ध कराने के मकसद से खरीदा था। हांलाकि इसके मूल में मकसद

यह था कि हमारे आसपास कुछ स्थान कुदरती हो जहां हम चैन की सांस ले सकें। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बीड़ के चारों ओर एक परकोटा बनाया गया जिससे कि इसमें कोई अतिक्रमण न हो सके। इसको सुरक्षित रखा गया। यदि हम इस क्षेत्र में विद्या भवन के क्षेत्र के बाहर की ओर नज़र दौड़ाएं तो साफ तौर पर फर्क महसूस करेंगे कि इस बीड़ में कुदरती जंगल मौजूद हैं। विद्या भवन की इस बीड़ में प्रारंभ से ही इंसान की दखलंदाजी को सीमित करने की कोशिशें की जाती रही है।

उल्लेखनीय है कि विद्या भवन इस बीड़ को न केवल संरक्षित कर रहा है बल्कि इसे विद्या भवन के छात्र–छात्राओं और शिक्षक साथियों के लिए कुदरत को समझने के लिए सुविधा उपलब्ध करा रहा है। विद्या भवन की बीड़ में कुदरत को समझने और उसके करीब जाने के अवसर छात्रों को दिए जा रहे हैं। यह समझने का प्रयास किया जा रहा है कि कैसे वहां की कुदरती परिस्थितियों को बिना क्षति पहुंचाए कोई कार्यक्रम विकसित किया जा सकता है।

मोटे–मोटे तौर पर यहां हमारे स्कूलों के बच्चों को प्रकृति को समझने का अवसर दिया जाएगा। यहां विद्या भवन के बच्चे जाएंगे और वे कुदरत के अहम पहलुओं को समझ सकेंगे। इसका अपना एक पाठ्यक्रम भी बनाया जा रहा है जिसके माध्यम से छात्र–छात्राओं को पर्यावरणीय पहलुओं को समझने में मदद मिल सकेगी।

प्रकृति साधना केन्द्र का सुहाना सफर

दिनांक 11 जनवरी 2010 को विद्या भवन बुनियादी माध्यमिक विद्यालय रामगिरि के हम छात्रा–छात्राएं बस द्वारा भीलों का बेदला के पास विद्या भवन प्रकृति साधना केन्द्र पर गए। हमारे समूह में कक्षा दसवीं के छात्र–छात्राएं तथा शिक्षक–शिक्षिकाएं थे। हमने पर्यावरण का आनन्द उठाते हुए वहां देखा कि विद्या भवन की बीड़ में पर खनन नहीं हुआ, पेड़–पौधों को संरक्षित रखा गया। पशु पक्षियों को पर्याप्त आवास मिला हुआ था तथा काफी घना जंगल था। बसन्त ऋतु होने के कारण पेड़ों के पत्ते झड़ चुके थे। हमें विभिन्न प्रकार की चिड़ियाओं तथा कीटों एवं पतंगों के बारे में समझने का मौका मिला। तथा विभिन्न पशु पक्षियों के बारे में महत्वपूर्ण वार्तालाप किया। इसके बाद पर्यावरण साधना केन्द्र के जंगल का भ्रमण किया। भ्रमण अन्तर्गत हमने विभिन्न प्रकार के पेड़–पौधों के व उनके बारे में जानकारियां प्राप्त की एवं लगभग तीन घंटे तक भ्रमण किया। भ्रमण के अन्तर्गत हमने विभिन्न पेड़–पौधे देखे। रजिया, अमलतास, महुआ, नीम, चिरमी, वटवृक्ष, रूद्राक्ष, कीकर, नीलगिरी रतनजोत आदि वृक्षों की जानकारियां प्राप्त की। तथा खाद के प्रकार एवं बनने की प्रक्रिया को समझा। हमको बीड़ का रास्ता तथा कुछ अन्य महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त करने में वहीं के व्यक्ति गेहरीलाल जी का सहयोग रहा। भ्रमण करते हुए एक गोबर पर बघेरे के पैर के निशान मिले जिसके सहारे–सहारे बघेरे की गुफा तक गए। इसी बीच हमारे विद्यालय की एक छात्रा धूप में चक्कर आने के कारण बेहोश हो गई। कुछ देर बाद उसे पानी

पिलाया तथा ठीक होने पर फिर से भ्रमण को जारी रखते हुए झाड़ियों, कांटों, बेलों को पार करते हुए आगे बढ़े। हमने दो जगह विश्राम किया और फिर से अपने स्थान पर आने लगे। रास्ते में बीच में एक कुआं था जहां हमने पानी पिया। इस बीच काफी भूख लगी थी इस कारण अपने स्थान पर आकर भोजन ग्रहण किया एवं आराम किया। दूसरा समूह लौटा तब तक बचे हुए विद्यार्थियों ने कबड्डी खेली। उसके बाद सभी बसों के द्वारा रवाना हुए। इस भ्रमण से पर्यावरण संरक्षण से संबंधित काफी बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ। यह मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक भ्रमण था।

जयदीप नागदा
कक्षा दसवीं
विद्या भवन बुनियादी विद्यालय, रामगिरि, उदयपुर

सोमवार का दिन था। उस दिन हम बीड़ पर गए। वहां पर टीचर ने जानकारियां दी। जब हम वहां गए तो हमें कहा कि यहां पर बहुत जंगली जानवर है। एक पल के लिए हमें डर लगा। लेकिन फिर सब ठीक हो गया। वहां पर झोपड़ियां बनी हुई थीं उन झोपड़ियों में सारी व्यवस्थाएं थी जैसे– पानी, खाने व बाथरूम, कचरा पात्र आदि की। वहां पर बिजली सूर्य के माध्यम से चलती है। वहां के जंगल में हमने सैर की। सबसे पहले हमें बताया की यहां पर बहुत सारे जीव जन्तु हैं। हम तो डर गए थे। वहां पर पेड–पौधे अधिक थे। हमने दो पहाड़ देखें एक पहाड़ हरा–भरा तथा दूसरा पहाड़ पत्थर वाला खाली था। हमें हरा–भरा पहाड़ अच्छा लगा। वहां पर बांस के झुरमुट थे। बांस में साल में एक बार फूल आते हैं। वहां के पहाड़ों पर कांटे वाले वृक्ष अधिक थे।

कुछ पेड़ों पर कीड़ों के अण्डे थे। कीड़े वृक्ष के अंदर घुस कर खाना खाते व बाहर निकाल देते। हमने वहां बकरी की मिगनी और नीलगाय के गोबर को देखा। बकरी की मिगनी छोटी होती है और नीलगाय की उससे बड़ी होती है। हमने आंकड़े के फलों को फटते हुए देखा। आंकड़े के बीज हवा के माध्यम से इधर–उधर पहुंच रहे थे। कुछ बीज जानवरों के माध्यम से इधर–उधर पहुंच जाते है। जानवर उस बीज को खा लेते है तो फिर उसकी मिगनी में वह बीज निकलता है। हमने दम्बोई का बिल देखा। उस बिल को ऊपर से तोड़ने पर उसमें से दीमक निकली। जंगल में घूमने के बाद हमने खाना खाया। फिर हमने खेल खेले। हमें खेलों में बहुत मजा आया। खेल खेलने के बाद हमने चाय पी फिर हमारी बस आ गई और हम घर चलें गए। हमें इस सफर में बहुत मज़ा आया।

भावना गुर्जर
कक्षा आठवीं
विद्या भवन बुनियादी विद्यालय, रामगिरि, उदयपुर

नागरिकता की शिक्षा

★ वि.वि. सिंह

गांधीजी शिक्षा के माध्यम से श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण चाहते थे, जो अपने कर्तव्यों को समझ सकें और सामाजिक बुराइयों का डटकर मुक़ाबला करने की क्षमता अर्जित कर सकें। उनका यह मानना था कि आने वाली पीढ़ी के लिए यह ज़रूरी है कि उन्हें अपने मसलों को, अपने हक़ को और अपनी ज़िम्मेदारियों को ख़ुद समझने का मौक़ा मिले।

पाठ्यपुस्तकों को पढ़कर केवल ज्ञानार्जन से आगे सहभागितापूर्ण सीखने, भावनाओं एवं अनुभव को शिक्षा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। विद्यार्थी लोकतंत्र को जीवन शैली के रूप में समझ सकें, उनमें दायित्व बोध का विकास हो, वे ज़िम्मेदारियों को समझें और वहन करें। इन सबके लिए पर्याप्त अनुभव व उपयुक्त अवसर दिए जाने आवश्यक हैं। विद्या भवन में इस हेतु प्रयोग बहुत पहले से हो रहे हैं।

पंचायत और छात्र मण्डल के माध्यम से बच्चों को इस तरह के अनुभव मिलते रहे हैं। पंचायत का गठन चुने गए अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष व कुछ अन्य मंत्रियों से होता। ऐसा विद्यार्थी जिसका चरित्र उत्तम हो, व्यक्तित्व प्रभावशाली हो, जिसमें संगठन योग्यता, सही निर्णय लेने की क्षमता, आत्मविश्वास, कार्य कुशलता व बैठकों के संचालन की क्षमता हो, अध्यक्ष पद पर उम्मीदवार हो सकता था। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का चुनाव प्रजातांत्रिक तरीक़े से विद्यार्थियों द्वारा किया जाता। पद हेतु इच्छुक उम्मीदवारों को प्रार्थना सभा में दो मिनट का समय दिया जाता और वे सबके समक्ष बोलकर बताते कि वे क्या कार्य करेंगे? क्या तरीक़े होंगे? आदि। इस तरह उम्मीदवार की एक छवि उभरकर आती और जिस बच्चे को जो उम्मीदवार पसंद आते वह उसके लिए मतदान करता।

अध्यक्ष के अतिरिक्त उपाध्यक्ष का भी चुनाव विद्यार्थियों द्वारा ही किया जाता। बड़ी अच्छी परम्परा थी। चुने जाने के बाद अध्यक्ष व उपाध्यक्ष अपने परामर्शक के रूप में शिक्षकों के नाम (वरीयता क्रम में) लेकर प्राचार्य से मिलते। कार्यभार व अन्य बातों के आधार पर प्राचार्य द्वारा किन्हीं दो शिक्षकों को परामर्शक, जो मुशीरेखास व सहायक मुशीरेखास कहलाते, नियुक्त कर दिया जाता। बच्चों को इस प्रकार सोचने के मौक़े देना अपने आप में अनूठा उदाहरण है।

अब पंचायत के चयनित अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, परामर्शक शिक्षकों के साथ सलाह मश्विरा करके पंचायत के अन्य मंत्रियों को मनोनीत करते। मंत्रियों में गृहमंत्री, खेलमंत्री, आमोद–प्रमोद मंत्री, साहित्य मंत्री, अनुशासन मंत्री, श्रम मंत्री आदि प्रमुख पद थे। ऐसे बच्चों को चुना जाता, जिनकी इन क्षेत्रों में रुचि हो, वे योग्यता रखते हों और ज़िम्मेदारी को भली प्रकार निभा सकें।

★ पूर्व प्रधानाध्यापिका, विद्या भवन सोसायटी जूनियर स्कूल। वर्तमान में विद्या भवन सोसायटी में कार्यरत।

अलग–अलग कक्षाओं से मंत्री बनाए जाते, जो कक्षा आठ से ऊपर के होते। उनके सहायक के रूप में कक्षा नौ से नीचे के बच्चे चुने जाते, जिससे उन्हें भी अनुभव प्राप्त हो और भविष्य में वे मंत्री पद संभाल सकें क्योंकि मंत्री पद के लिए यह आवश्यक शर्त थी कि उस विद्यार्थी को पूर्व में पंचायत के सदस्य के रूप में कार्य करने का अनुभव प्राप्त हो।

पंचायत में सभी कक्षाओं के चयनित दल–नेता भी सम्मिलित होते। विद्यालय में सहशिक्षा होने के कारण दो छात्रा–प्रतिनिधि भी होतीं। पंचायत के गठन के पश्चात् शपथ ग्रहण कार्यक्रम होता और ऐसा महसूस होता कि ये बच्चे अब ज़िम्मेदारी के पदों पर पूर्ण निष्ठा से काम करेंगे।

विद्यालय के दिन–प्रतिदिन के कार्यक्रम के भली प्रकार संचालन में सहयोग प्रदान करना, विशेष अवसरों, कार्यक्रमों, समारोहों के समय आयोजन व अनुशासन में पूर्ण सहयोग प्रदान करना, पंचायत दिवस, खेलकूद व अन्य प्रतियोगिताओं, उत्सव आयोजनों आदि में पंचायत की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती।

जैसा कि बहुत कुछ नाम से स्पष्ट है गृहमंत्री का कार्य विद्यालय की सामान्य व्यवस्था, अनुशासन, भोजन व विश्राम, गणवेश, समय की पाबंदी आदि में सहयोग प्रदान करना था।

खेलमंत्री को शारीरिक शिक्षक को पूर्ण सहयोग प्रदान करना होता था। विद्यालय में विभिन्न खेलों की व्यवस्था व सफ़ाई का निरीक्षण करना उनका दायित्व था।

आमोद–प्रमोद मंत्री को मनोरंजन सम्बन्धी कार्यक्रम, विद्यालय स्थापना दिवस व अन्य उत्सवों के आयोजन में मदद करना होता था। साहित्य मंत्री के पास विद्यालय में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन का ज़िम्मा था। कई अवसरों पर इन कार्यक्रमों का संचालन अथवा उद्घोषणा भी उनके द्वारा ही की जाती। श्रम मंत्री श्रमदान व नज़दीक के गांवों में समाज सेवा के कार्य के लिए ज़िम्मेदार थे। इसी प्रकार सभी के ज़िम्में उनके क्षेत्र के कार्य थे और विद्यालय का संचालन मोटेतौर पर पंचायत की ज़िम्मेदारी थी। विभिन्न कार्यों के सम्पादन में बच्चों से राय मश्विरा लेकर यह अहसास भी करवाया जाता कि विद्यालय संचालन में उनकी पूर्ण भागीदारी है। अनुशासनहीनता के मामलों में भी उनकी राय महत्त्वपूर्ण होती। कुछ भी ग़लत होने पर पंचायत से पूछा जाता अतः उनकी पूरी प्रतिबद्धता रहती थी।

विद्यालय में कुछ ऐसे दिन होते जो 'पंचायत दिवस' कहलाते थे। ये आधे दिन या पूरे दिन के होते। कभी मौसम अच्छा होने या कोई विशेष अवसर होने पर पंचायत के लीडर्स यह तय करते कि आज 'पंचायत दिवस' हो। परामर्शक से सलाह लेकर सभी कक्षाओं के लिए अलग–अलग कार्यक्रम यथा–भ्रमण, पार्टी, मैच आदि तय करके प्राचार्यजी से स्वीकृति के पश्चात् 'पंचायत दिवस' घोषित हो जाता। ये दिन बच्चों के लिए अत्यन्त आनन्ददायी होते। कुछ दल आसपास के स्थानों के भ्रमण अथवा पर्वतारोहण के लिए निकल जाते, कुछ दल अपनी पसन्द का खेल खेलते या परस्पर मैच करते। जिस दल को पार्टी मिलती उन्हें पंचायत फण्ड से प्रति विद्यार्थी के हिसाब से धन राशि प्राप्त होती, जिससे वे विद्यार्थी सोचकर कभी भुट्टा पार्टी, अमरूद पार्टी (स्कूल के आसपास अमरूद की कई बाड़ियां थीं, जहां से बच्चे स्वयं पेड़ से तुड़वाकर अमरूद ले आते) तो कभी पकौड़ा पार्टी करते। कालान्तर में कभी–कभी कोई दल बाज़ार से समोसा–कचौड़ी

या मिठाई ख़रीदकर भी पार्टी करने लगे पर स्वयं बनाकर खाने का आनन्द अलग ही होता और इससे बच्चों को हाथ से काम करने का मौक़ा भी मिलता।

पंचायत के गठन के पश्चात् सभी लीडर्स का एक ट्रेनिंग रात्रि कैम्प आयोजित होता, जिसमें उन्हें कार्य सम्पादन सम्बन्धी निर्देश दिए जाते। पूरे वर्ष के लिए एक कार्य योजना तैयार की जाती, इस रात्रि कैम्प में सम्मिलित होकर बच्चों को यह अनुभव होता कि उन्हें विशेष कार्य करने हैं। अपनी ज़िम्मेदारियों को भली प्रकार निभाना है। अलग–अलग कक्षाओं से चुने गए मंत्रियों के लिए यह अच्छा अवसर होता, जिससे वे एक दूसरे के क़रीब आ जाते, एक दूसरे की स्वभावगत विशेषताओं को पहचानने लगते। परामर्शक शिक्षक को भी इस कैम्प में विद्यार्थियों की व्यक्तिगत विशेषताओं, क्षमताओं व योग्यताओं को जानने का मौक़ा मिलता। नेतृत्व के गुण भी प्रकाश में आते।

पंचायत सदस्यों को स्कूल यूनिफार्म पर लगाने के लिए एक–एक बैज भी प्रदान किया जाता। इस तरह वे अन्य बच्चों से अलग भी दिखते। विशेष अवसरों पर विशिष्ट अतिथि के साथ अध्यक्ष को बैठने का अवसर प्राप्त होता। अन्य मंत्री अतिथियों के स्वागत व बैठाने की व्यवस्था व विद्यार्थियों के अनुशासन की ज़िम्मेदारी निभाते।

विद्यालय पंचायत परामर्शक के रूप में कार्य करते हुए मुझे यह अहसास हुआ कि बच्चों में काम करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। ज़रूरत होती है उन्हें ज़िम्मेदारी सौंपने की, उनकी क्षमताओं को पहचानने और प्रोत्साहन देने की। ट्रेनिंग कैम्प के बाद तो बच्चों से हमारा इतना तादात्म्य स्थापित हो जाता ऐसा महसूस होने लगता हम लोग एक परिवार की तरह है और हमें विशेष उद्देश्यों की पूर्ति करनी है। इन बच्चों से एक अलग तरह का जुड़ाव सत्रपर्यन्त बना रहता। इन सबकी बड़ी मधुर स्मृतियां आज भी स्मृति–पटल पर विद्यमान हैं।

विद्यालय के स्थापना दिवस (21 जुलाई) के आयोजन की व्यवस्था के लिए जब हम लोग एक दिन पूर्व सज्जनगढ़ गए और रात्रि में वहीं रुककर सुबह जल्दी उठकर बच्चों ने पूरे अहाते में सफ़ाई की, जगह–जगह आवश्यक निर्देश लिखे, पहाड़ी रास्ते पर उत्साहवर्धक, जोशीले नारे लिखे तो मिलजुल कर उन्हें सब काम करते हुए देखना एक अलग तरह का अनुभव था।

पंचायत व्यवस्था में पंचायत के चयनित पदाधिकारियों के अतिरिक्त कक्षा 6 से 12 के सभी विद्यार्थी छात्र मंडल के सदस्य होते। छात्र मंडल को प्रजातांत्रिक शैली में कार्य करने का जीवन्त उदाहरण कहा जा सकता है। छात्र मंडल की बैठक वर्ष में 1–2 बार ही होती। इसमें किसी भी विद्यार्थी को कोई भी प्रश्न पूछने का अधिकार होता और सम्बन्धित क्षेत्र के मंत्री को उसके जवाब देने होते। किसी क्षेत्र में कोई काम ठीक नहीं हो रहा हो तो अपनी राय विद्यार्थी बेधड़क प्रस्तुत करते। अध्यक्ष इस बैठक का सभापतित्व करता।

सत्रान्त में होनेवाली बैठक में प्रत्येक मंत्री द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत की जाती। अपने काम का लेखा–जोखा रखना, प्रतिवेदन लिखना, उसको पूरे सदन के सम्मुख प्रस्तुत करना, पूछे गए प्रश्नों का तुरन्त जवाब देना, कोई छींटाकशी होने पर भी बिना संतुलन खोए सदस्यों की पूरी बात सुनना व स्पष्टीकरण देना, उन्हें सन्तुष्ट करना आदि की ट्रेनिंग इस तरह हो जाती।

यह तो हुई सीनियर कक्षाओं की बात किन्तु जूनियर स्कूल में भी पंचायत कार्य करती। चूंकि कक्षा 3, 4

व 5 में बच्चे छोटे होते हैं, अतः वहां परामर्शक पहले नियुक्त हो जाते और वे अन्य शिक्षकों से सलाह करके पंचायत के नेताओं को मनोनीत करते।

प्रधानाध्यापिका के रूप में मेरा यह अनुभव रहा कि उस स्तर पर भी ज़िम्मेदारी सौंपने पर बच्चे अपने काम को बड़ी कुशलता से करते हैं। यहां निश्चित ही शिक्षिकाओं को अधिक मार्गदर्शन देना होता है। जो शिक्षिका जितनी ज़्यादा रुचि इस कार्य में लेती उसकी निर्देशन क्षमता से पंचायत की कार्यप्रणाली पर उतना ही प्रभाव पड़ता।

वनशाला के दिनों में 2–3 बार कैम्प कांउन्सिल की मीटिंग होती। प्रधानाध्यापिका की अध्यक्षता में होनेवाली इस मीटिंग में शिक्षकों के साथ पंचायत लीडर्स भी होते। पूछे जाने पर वे लीडर्स ऐसे–ऐसे सुझाव देते, व्यवस्थाओं में जहां–जहां कमियां हैं, उनको इंगित करते कि सुनकर आश्चर्य होता। इस तरह बच्चों की अवलोकन क्षमता, सोचने–विचारने की शक्ति, नेतृत्व के गुण परिलक्षित होते हैं।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा 2005 के अनुसार ''बच्चे उसी वातावरण में सीख सकते हैं जहाँ उन्हें लगे कि उन्हें महत्वपूर्ण माना जा रहा है। हमारे स्कूल आज भी सभी बच्चों को ऐसा महसूस नहीं करवा पाते। सीखने का आनंद व संतोष के साथ रिश्ता होने की बजाए भय, अनुशासन व तनाव के सम्बन्ध हों तो यह सीखने के लिए अहितकारी होता है।''

माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952) द्वारा की गई परिकल्पना स्मरण योग्य है :

''लोकतंत्र में नागरिकता की परिभाषा में कई बौद्धिक, सामाजिक व नैतिक गुण शामिल होते हैंः एक लोकतांत्रिक नागरिक में सच को झूठ से अलग छांटने, प्रचार से तथ्य अलग करने, धर्मांधता और पूर्वग्रहों के ख़तरनाक़ आकर्षण को अस्वीकार करने की समझ व बौद्धिक क्षमता होनी चाहिए.... वह न तो पुराने को इसलिए नकारे क्योंकि वह पुराना है, न ही नए को इसलिए स्वीकार करे क्योंकि वह नया है.... बल्कि उसे निष्पक्ष रूप से दोनों को परखना चाहिए और साहस से उसको नकार देना चाहिए जो न्याय व प्रगति के बलों को अवरुद्ध करता हो...''।

बच्चों में उपर्युक्त गुण तभी पैदा होंगे, जब उन्हें अनुभव व अवसर दिए जाएंगे। निस्संदेह बच्चों में असीमित क्षमताएं होती हैं, उनकी शक्तियों, योग्यताओं और क्षमताओं को पहचानकर सही दिशा में लगाया जाए, वे ज़िम्मेदारियों को समझें, जहां कमियां हैं, कुछ ग़लत हो रहा है, उसके बारे में भी बोल सकें तभी वे अच्छे नागरिक बन सकेंगे। नागरिकता की यह शिक्षा विद्यालय स्तर पर आरम्भ हो जानी चाहिए।

जुगाड़ की डिग्री

★ प्रेमपाल शर्मा

मैं कई दिनों से इंजीनियरिंग के एक छात्र पर नज़र रखे हुए था। मेरे पूछने पर उसने बताया कि हम तीन विद्यार्थी मिलकर एक इंजीनियरिंग के प्रोजेक्ट पर काम कर रहे हैं। यह डिग्री का अनिवार्य हिस्सा है, लेकिन इन निजी इंजीनियरिंग कॉलेज के शिक्षक इतने समर्थ नहीं हैं कि वे मदद कर पाएं। इसलिए प्रोजेक्ट की बाक़ायदा दुकानें, जिन्हें वे कंसलटेंसी सेंटर या इंस्टीट्यूट नाम देते हैं, खुली हुई हैं। ज़्यादातर कॉलेजों के विद्यार्थी ऐसे ही जगहों से अपना प्रोजेक्ट पूरा करते हैं या बना बनाया ख़रीद लाते हैं। कुछ वायवा के प्रश्न–उत्तर भी वे रटवा देते हैं। टॉपिक का चुनाव भी इंटरनेट से कर लेते हैं। देश समाज, प्रयोगशाला, पाठ्यक्रम की किसी समस्या वे चुनाव नहीं करते नहीं। लो हो गई इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट की डिग्री।

प्रोफेसर यशपाल ने अपनी हाल की रिपोर्ट में ऐसे ही इंजीनियरिंग कॉलेजों पर आंसू बहाए हैं। लेकिन रातोंरात नहीं हुआ। क्या बच्चों को दिए जानेवाले होमवर्क के प्रोजेक्ट इससे अलग हैं? क्या हर अंग्रेज़ी पब्लिक स्कूल के आसपास ऐसे रेडीमेड होमवर्क की दुकानें नहीं बढ़ रही हैं। क्या पूरा मध्यवर्ग इसी को बेहतर शिक्षा नहीं मान रहा, विशेषकर जब वह सिर्फ़ अंग्रज़ी में दी जाए? यह

★ नियमित लेखन कार्य करते हैं। दिल्ली में रहते हैं।

सब दिल्ली में हो रहा है और मध्यवर्ग इस मुग़ालते में भी जी रहा है कि उसके नौनिहाल के हाथों में कितना भव्य प्रोजेक्ट है। कितने में ख़रीदा है? यह वे किसी को नहीं बताते। कौन जाने ये प्रोजेक्ट मंदिर में चढ़े प्रसाद की तरह फिर से लौटकर स्कूलों से इन्हीं दुकानों पर पहुंच जाते हों।

शोध, पीएचडी और प्रोजेक्टों की नक़ल मारने की यह महामारी स्कूल, कॉलेजों पर ही ख़त्म नहीं होती। हाल ही में इसका नमूना एक सरकारी विभाग में भी देखने को मिला। प्रशिक्षण संस्थान में ऐसे ही एक प्रोजेक्ट को 'मौलिक योगदान' के वर्ग में रखकर मंत्री ने उसे पुरस्कार के लिए आगे बढ़ाया। क़िस्मत से उस निर्णायक समिति के एक सदस्य तीन साल पहले ही उस विधि का इस्तेमाल कर चुके थे। भेद खुला कि प्रशिक्षण संस्थान में पहले से मौजूद प्रोजेक्ट रिपोर्ट का पहला पृष्ठ बदलकर यह करिश्मा किया गया था। बचपन की डाली आदतें इसी रफ़्तार से देश को गर्त में ले जा रही हैं।

इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज की हाल में प्रकाशित 'लीलावती डाटर्स' में भौतिकशास्त्री पूर्णिमा सिन्हा लिखती हैं कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक एसएन बोस का आग्रह रहता था कि प्रयोगशाला में ज़रूरत के उपकरण भी हम स्वयं बनाएं। उन्होंने मुझे स्वयं कूलिज की तरह एक्स–रे मशीन बनाने को कहा, जिसे कहीं से भी खोल–खोलकर मनमर्ज़ी से जोड़ा जा सके। अगर बोस के स्थापित आदर्श का पालन किया जाता तो व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में अधिक आत्मनिर्भर और आत्मविश्वासी वैज्ञानिक संस्कृति का विकास शायद संभव हो जाता। अब तो पैसे के बूते आसानी से मिलनेवाले महंगे आयातित उपकरणों को तुरंत ख़रीदने का आदेश हर प्रयोगशाला दे देती है।

स्टेनले मिलर मेरे प्रिय वैज्ञानिकों में से एक हैं। क्योंकि एक तो 'जीवन की उत्पत्ति' की खोज के लिए, लेकिन उससे भी ज़्यादा इसलिए कि युगांतकारी प्रयोग उन्होंने अपने शिकागो विश्वविद्यालय में कॉलेज की प्रयोगशाला में किया था, जिस पर आगे चलकर उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। आइंस्टीन के प्रति भी ज़्यादातर नतमस्तक इसलिए होता हूं कि उन्होंने कॉलेज की उम्र में ही ''सापेक्षता के सिद्धान्त'' का सूत्र खोज लिया था। दुनिया को उसे समझाने और समझने में ज़रूर कुछ वर्ष लगे। मैं इसे उम्र के पैमाने से इसलिए माप रहा हूं कि हमारे कॉलेज, विश्वविद्यालय सारी भूमंडलीकरण की बातों के बावजूद अब भी वैसे ही बंजर बने हुए हैं। अगर ज्ञान आयोग की बातों और दबाव के चलते सब कुछ अंग्रेज़ी में और कर दिया गया तो शायद स्थितियां और भी ज़्यादा ख़राब हो जाएं।

क्या हमारे किसी भी विश्वविद्यालय के पास ऐसे वैज्ञानिक शोधों की सूची है जिससे वे अपने विद्यार्थियों को प्रेरित कर सकें? ज़्यादा से ज़्यादा पूर्णांक, प्राप्तांक प्रतिशत की सूचियों से ज़रूर कुछ विभागों की दीवारें जड़ित हैं। जब हम प्रतिशत को हटाकर ग्रेड की बातें करते हैं तो भूल जाते हैं कि किस–किस विश्वविद्यालय की दीवार से हम इस प्रतिशत को हटाएंगे। मुझे याद नहीं कि किसी स्कूल की दीवार पर किसी खिलाड़ी, कलाकार, लेखक, चित्रकार का नाम लिखा हो।

लगभग सौ वर्ष पहले यूरोप के विश्वविद्यालयों में जो हो रहा था क्या वह हमारे यहां भी संभव है? विश्वविद्यालयों के नाम पिछले पांच–सात सालों में ज़रूर ऐसे रख दिए गए हैं– इनोवेटिव विश्वविद्यालय, क्रिएटिव कॉलेज ऑफ आर्ट, हेल्थ यूनिवर्सिटी, लेकिन परिणाम शून्य। क्या आगे भी बदलाव के इन जुमलों के बाद यही होगा?

थ्री इडियटस् के बहाने

★ रजत शर्मा

'थ्री इडियट्स' एक ऐसी फिल्म है जिसने हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था पर कई तरह के सवाल खड़े किये। ये भी कहा जा सकता है कि इस तीन घण्टे की फिल्म ने उन लोगों की आंखें खोल दी जो ये सोचते है कि हम जो कहेंगे वही हमारे बच्चे करेंगे। बहुत कम पालक हैं जो अपने बच्चों के मन का होने देते हैं। पैदा होते ही यह तय हो जाता है कि बच्चे को आगे क्या करना है। या ये कह सकते हैं कि पैदा होते ही बच्चा दुनिया की दौड़ में शामिल हो जाता है।

इस फिल्म ने बच्चों के आत्महत्या करने पर भी सवाल उठाए हैं। स्कूल या कॉलेज में बच्चे क्यों दबाव महसूस करते हैं। देखा जाए तो कमजोर

★ मेकेनिकल इंजीनियरिंग के छात्र हैं। जयपुर में पढ़ते हैं।

बच्चों पर ज्यादा दबाव डाला जाता हैं। कमजोर है इसलिए उसे कक्षा के बाहर रखा जाता हैं। अरे! अगर कमज़ोर है तो उसे कक्षा के अंदर होना चाहिए। बाहर तो वह और कमजोर हो जाएगा। उसे नीचा दिखाया जाता है कि उसे कम आता है दूसरों को ज्यादा। यह सब चीज़ें बच्चे पर गहरा असर करती हैं। कोई यह नहीं सोचता कि वो क्यों कमजोर हैं? क्या कारण हैं? 'तारे जमीं पर' फिल्म ने भी पालकों पर उंगली उठाई है जो अपने बच्चों को प्रतिशत की दौड़ में दौड़ा रहे हैं।

मैकेनिकल इंजीनियरिंग के दूसरे वर्ष की मैं अपनी बात करता हूं। विश्वविद्यालय पर ज्यादातर पाठ्यक्रम का दबाव होता है। पाठ्यक्रम के अंदर क्या है? उसे ज्यादा तवज़्जौं नहीं दी जाती। या ये कहा जाए कि ये हमें रटने पर मजबूर करते हैं। क्योंकि रटने पर नम्बर ज्यादा आते हैं प्रतिशत और समझ का कोई लेना देना नहीं! तथाकथित लोग कहते हैं कि जिसके ज्यादा नम्बर वो सबसे अच्छा इंजीनियर! भले ही उसको विषय का ज्ञान न हो।

प्रयोग सिर्फ लिखाए जाते हैं, करने की बात ही छोड़ो और शायद ज्यादातर कॉलेज में यही होता होगा। मशीनें सिर्फ दिखावे के लिए होती हैं। जब मशीनों के साथ काम करने को ही नहीं मिलेगा तो हम किस बात के मेकेनिकल इंजिनियर? हम इंजीनियरिंग में तो रट–रट कर पास हो जाएंगे पर आगे हकीकत की जिंदगी में शायद हम फैल हो सकते हैं।

यहां पर देखा जाए तो इंजीनियरिंग कॉलेज एक फैक्ट्री की तरह है जो सिर्फ नाम के आगे इंजीनियर लगा देता है।

हाल ही में मैंने एक रिमोट वाली कार खरीदी। मैं उसे खोलकर समझना चाह रहा था। जब मैं उसे समझ नहीं पाया तो मैंने अपने एक मित्र का जो इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग खत्म कर चूके हैं, उनसे पूछा कि इसमें कौन सा सिद्धान्त काम करता हैं? दो मिनट वह चुप रहे या ये कहें कि उनके तोते उड़ गए। वह मुझे उसके बारे में ऐसी कोई बात नहीं बता पाए जिससे मेरी समझ बन सके। वास्तव में पढ़ाई के दौरान समझ विकसित हो ही नहीं पाती।

ये सब छोड़ो, प्राध्यापक की बात की जाए तो वो भी बेचारे क्या पढाएं, वो भी तो हमारी तरह ही पढ़ें होंगे। कुछ प्राध्यापक ऐसे होते हैं जो बहस ही नहीं करना चाहते। कहते हैं, खतम। कह दिया ना फिनिश! हमारी सुनने वाला कोई नहीं है कॉलेज में। देखा जाए तो हमें काबिल नहीं बनाया जा रहा है। हम ज़रिया है कॉलेज की कमाई का।

चतुर के बिना

★ पल्लव

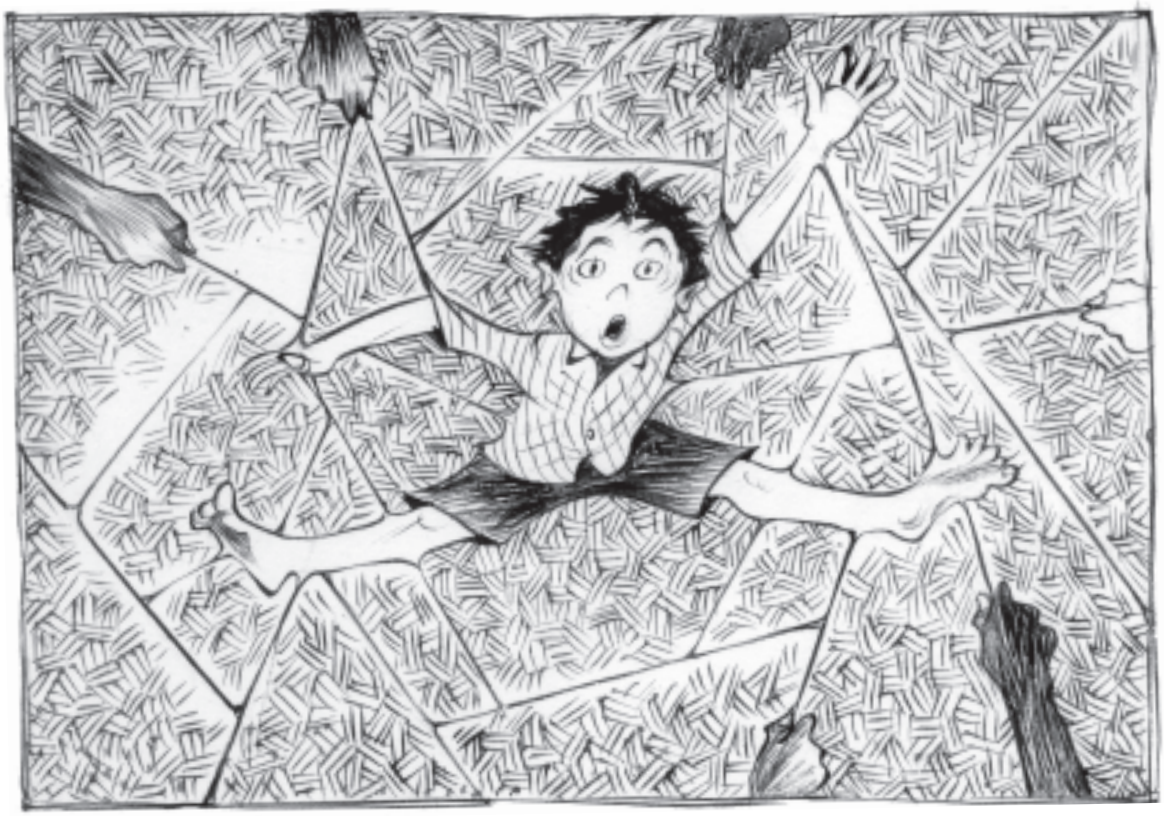

'थ्री इडियट्स' देखकर पहली बात जो मन में आती है वह यह है कि कोई तो मुख्यधारा की कृति है जो पूरी ताकत से सवाल उठा रही है। किताबें सवाल ही उठाती हैं लेकिन किताब अब मुख्यधारा की प्रतिनिधि कृति कहां रही? खास बात यह कि सवाल भी भ्रष्टाचार, स्त्री पुरुष संबंध या राजनीति जैसे लुभानेवाले विषय पर नहीं बल्कि शिक्षा जैसे स्वीकार्य पारंपरिक विषय पर उठाए गए हैं। भाई अब पढ़ाई के कोई चार छह मतलब तो हैं नहीं। एक ही है पढ़ों और ख़ूब कमाओ। ख़ूब कमाना प्रबन्धन या प्रयोजनमूलक विज्ञान ही सम्भव है तो वही पढ़ो। कभी ही कोई अध्यापक मुश्किल से समझा सकता है कि पढ़ना जानना है और यह जानना सच को जानने के लिए होता है।

★ जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय उदयपुर के हिन्दी विभाग में अध्यापन, बनास के संपादक हैं।

फिल्म पारंपरिक शिक्षा पद्धति पर सवाल खड़े करती है और इसके लिए जो प्रतीक चुने गए है, वे बेहद मौलिक और अप्रचलित हैं इसीलिए अधिक छूते हैं। मसलन नायक ठेठ पहाड़ का है शर्मा, वर्मा, सिंह या भटनागर नहीं। बताइए हमारे जाने पहाड़ी कौन? नेपाली! नेपाली यानी चौकीदार। सलाम शाब कहनेवाला। और आमिर खान का अभिनय तो देखिए सचमुच कमबख़्त पहाड़ से आया ही लगता है। विडम्बना यह है कि उसकी सारी साधना परिश्रम का फल उसे मिलनेवाला नहीं है और इस भ्रष्टाचार पर कोई आश्चर्य दर्शकों को नहीं होता। मतलब हमने मान लिया है कि डिग्रियां खरीदी–बेची–बदली जाना सम्भव है। इस शिक्षा पद्धति का दूसरा पहलू है महत्त्वकांक्षाओं की लदान। मां–बाप की आकांक्षाओं को ढोते ढोते भले बच्चे की जान चली जाए लेकिन उसे बनना तो इंजीनियर ही है। बेमन से काम करने का हश्र जो होता है, हमें उससे क्या? यही कहना ज़रूरी है कि सारी पढ़ाई–लिखाई जिस निष्कर्ष पर जाती है वह है परिश्रम से घृणा। हाथ से काम करना छोटी बात है और इसीलिए नाई, मोची, कुम्हार, बुनकर, धोबी या सफ़ाई के काम करनेवालों को तथाकथित सभ्य समाज में बराबरी का सम्मान नहीं दिया जाता। नायक के मित्र को उसके पिता फोटोग्राफी से रोकते हैं क्योंकि इससे छोटेपन की गंध आती है और इससे उतना धन अर्जित करना भी संभव नहीं, जो इंजीनियर–डॉक्टर होकर मिलेगा। नायक का छोटे–छोटे प्रयोगों में सफल होना दरअसल परिश्रम के पक्ष में सम्मान पैदा करना ही है। चाहे बिजली पैदा करने का उपकरण या प्रसूति का तरीक़ा। तीसरी बात रटन्त विद्या की असलियत को बताती है। चतुर (फिल्म का खलनायक) का अपने प्राचार्य के सम्मान में स्पीच देनेवाला दृश्य इस रटन्त विद्या का उपहास उड़ानेवाला है। तमाम परीक्षाओं की कुंजी इसी कला में है। बड़ी परीक्षाएँ हो या प्रतियोगी जांचें – थोड़े पानीवाले कुंए के मेंढ़क की तरह टर्राना सीख लिया तो सफलता निश्चित है। हमारे यहां शिक्षकों को पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में तो भेजा जाता है लेकिन पी.एस.सी. वगैरह में टॉप रहे प्रतिभागियों का सर्वे कर पता लगाया जाना ज़्यादा ज़रूरी है कि उन्होंने क्या किया?

एक फिल्म अगर जीवन के उपेक्षित (किंतु असल) मुद्दों को बहस में ले आए और उसका प्रस्तुतीकरण चाक चौबन्द हो तो कहना ही क्या? फिल्म की कसी हुई स्क्रिप्ट और ताज़गी भरे अभिनय ने इसे कमाल की सफलता दी है।

लेकिन इस सफलता के पीछे मौजूद अनचीन्हे पक्ष को भी देखना चाहिए। चतुर फिल्म में क्यों है? क्या बग़ैर खलनायक के हमारा नायक बड़ा नहीं हो सकता था? चतुर का नाम ही उसकी भावी असफलता की घोषणा कर देता है फिर उसका दक्षिण भारतीय स्वर दरअसल मुख्यधारा (तथाकथित) के लोगों की कुंठा है जो हिन्दी न बोल पाने पर उसका मजा लेकर पोषित होती है। प्रिंसिपल का खब्ती और सनकी चरित्र भी इस फ़िल्म की कमज़ोरी है। एक ख़राब कहानी में नायक का पिता खलनायक होता है। क्या हमारे मौजूदा दौर में कोई प्रिंसिपल या चतुर खलनायक हो सकते हैं? भूमण्डलीकरण की आंधी में खलनायक को पहचानना मुश्किल ही नहीं असम्भव सरीखा है। यह प्रशंसा की बात है कि फिल्म में टंगी हुई तमाम बंदूकें अन्ततः छूटकर अपनी उपस्थिति को सिद्ध करती हैं (चेखव)। लेकिन यह मसाला फ़िल्मों की कमज़ोरी ही है कि इतनी बन्दूकों का इस्तेमाल करना पड़ा। बहरहाल जब तक ऐसी फ़िल्म न आ जाए हम इन फायर का आनन्द लें और जो सवाल एकाएक उठ खड़े हुए हैं उनसे जूझें।

भाषा की कहानी

★ वरूण ग्रोवर

बात थोड़ी अज़ीब है और स्ट्रग्लिंग राइटर को तो ऐसा बिल्कुल नहीं कहना चाहिए। लेकिन सच यही है कि मुझे नहीं पता कि ये कहानी कब की है। ना ही इस कहानी के घटनास्थल की सही–सही लोकेशन मालूम है। बस इतना पता है कि उस ज़माने में एशिया, यूरोप, अफ़्रीका और शायद अमेरिका महाद्वीप भी आपस में जुड़े हुए थे। आपने ज़रूर वो पुराने नक़्शे देखे होंगे जिनमें इस तरह की विस्मयकारी पॉसिब्लिटीज को रेखा–चित्रांकित किया गया है। यूरोप का बायां हिस्सा अफ़्रीका के दाहिने में और आस्ट्रेलिया का ऊपरी पश्चिमी किनारा आज के तमिलनाडु के बगल में। मतलब कि यूएनओ जो सपना हमारे भविष्य के लिए देखता है, वो हमारे इतिहास में पहले ही पूरा हो चुका है।

लिंग्विस्ट्स का मानना है कि उस समय दुनिया में भाषा का विकास भी ठीक से नहीं हुआ था। अर्धविकसित मानव को भाषा की कॉम्प्लेक्स संरचनाओं और व्याकरण की गहरी समझ नहीं थी, और अलग–अलग कबीलों में बोली जानेवाली ज़्यादातर बोलियां एक दूसरे से काफ़ी मिलती–जुलती थीं। तो अगर एक कबीला, मान लीजिए बाद का यूरोप, मां को 'माथिर' बोलता तो दूसरा, मान लीजिए बाद का एशिया, उसे 'मातृ' कहता होगा। सिर्फ़ इतना ही नहीं, आजकल के भाषावैज्ञानिकों का मानना है कि दुनिया की सारी भाषाएं केवल एक ही भाषा से जन्मीं हैं और इसे प्रोटो–वर्ड कहा जाता है। ख़ासे शोध के बाद, दुनिया में सहमति है कि भाषा हमारी अंदरूनी ज़रूरत भले ही हो– इसका तात्कालिक कारण, इसका ड्राइविंग फोर्स हमेशा से बाह्य तत्त्वों, यानीकि प्रकृति से ही मिला है। मतलब कि, भाषा एक एक्शन नहीं, प्रकृति के मुंह से 'रा' ही निकला। इसलिए मिस्र में भी सूर्य भगवान 'रा' हैं और सिंधु के इस पार भी सूर्यवंशी भगवान का नाम 'राम' है। (सूर्य का जाया हमेशा 'राजा' होता है।)

आप सोचेंगे कि ये कहानी शुरू भी होगी या सिर्फ़ भाषा पुराण के पन्ने ही फड़फड़ाते रहेंगे। लेकिन सच यही है कि भाषा इस कहानी का धरातल है दूर–दूर तक बंजर दिखनेवाले इस प्लॉट (सिनेमा की कहानीवाला) का इकलौता रोमांचक किरदार है भाषा। भाषा पर एक आख़िरी बात। बेबिलोनियन सभ्यता की एक पौराणिक कथा जो कि 'ओल्ड टेस्टामेंट' में भी पाई जाती है में कहा गया है कि एक ज़माना था जब पूरी दुनिया बाबिलू नाम के एक शहर में बसती थी और एक ही भाषा बोलती थी। इस शहर के लोगों ने एक बार एक बड़ी–सी मीनार बनाने की कोशिश की, इतनी ऊंची कि जिस पर चढ़कर के इंसान भगवान के पास पहुंच जाए। भगवान को ये दांव पसंद नहीं आया और उसने सबको शाप दिया कि ''जाओ, आज से तुम सब लोग अलग–अलग भाषाएं बोलोगे।'' और तब से दुनिया में अराजकता, भाषावाद और अविश्वास फैल गया। इस मीनार को 'टावर ऑव बाबेल' और

★ युवा कहानीकार हैं। मुंबई में रहते है।

बेमतलब बड़बड़ाने को आज भी बैब्लिंग कहते हैं। ख़ैर, हम जब की बात कर रहे हैं तब इतने एनालिसिस की न तो दरकार थी और शायद न ही स्कोप।

आज की डैन्यूब नदी की घाटी के पास बसनेवाले उस पुरातन मानव का नाम शायद 'क्वैं' था। उसके दोस्त, प्रेमिकाएं और रिश्तेदार उसे इसी नाम से बुलाते थे। वो भी अक्सर समझ जाता था कि ''क्वैं' उसी को संबोधित है। क्वैं की उम्र क़रीबन अठारह साल रही होगी। यानीकि वो नवकिशोर था, आज का टीनएजर जैसा कि इस उम्र में होता है। क्वैं दिनभर फालतू घूमता। नदी किनारे बैठा रहता। कभी–कभी किसी प्रेमिका से सहवास कर लेता। और शाम ढले अपने कबीले के आसपास पहुंच जाता। शिकार करना अनिवार्य था। (इस डर को भी वैज्ञानिकों ने एक नाम दिया है– एटाविस्टिक फिअर और उनका मानना है कि आज भी, हमारे अंदर कुछ डर ऐसे हैं जो हमें हमारे पुरखों से मिले हैं– जैसे कि अंधेरे का डर, किसी परिजन की मृत्यु का डर) इसलिए वो अक्सर नदी किनारे से मछलियां पकड़ लाता और कबीले में इज़्ज़त बनाए रखने की कोशिश करता।

पर मछलियां पकड़ने में इज़्ज़त न तो आज मिलती है (मुंबई के मूलवासी, कोलियों से पूछिए) और न ही क्वैं के वक़्त में मिलती थी। क्वैं की पकड़ी मछलियां भी कई बार बहुत कांटेदार और बेस्वाद ही होती और उस दिन झगड़ा और बढ़ जाता। कबीले के बाक़ी नवकिशोर, 'खूं', 'बो' और 'नाह', अच्छे लड़ाकू थे और उन्हें क्वैं की मुफ़्तख़ोरी ज़रा भी पसंद नहीं थी। खूं तो इसी बात को लेकर पहले भी एक कबीलेवाले को मार चुका था। उस बुड्ढे कबीलेवाले की लाई हुई मछली का कांटा खूं के गले में फंस गया था और खूं ने पास पड़ा पत्थर उठाकर उसके जबड़े पर दे मारा था। उसके बाद भैंसे की टांग की नुकीली हड्डी से उसका सीना चीर दिया था और फिर रातभर रोया था। सुबह उगते सूरज के सामने निर्वस्त्र खड़े खूं ने अपने ही हाथों मारे गए बुड्ढे को नदी के पासवाले दलदल में डाल दिया था और आसमान की तरफ मुंह उठाकर एक अज़ीब–सी आवाज़ निकाली थी, जिसके बाद वहां गिद्धों और कौओं की टोलियां मंडराने लगीं थीं।

मतलब कि, क्वैं सिर्फ़ मछलियां पकड़कर बहुत दिन चैन से नहीं रह सकता था। पर पिछले कुछ दिनों से उसे एक दूसरा ही ख़याल आ रहा था। उसके अंदर, जाने कहां से एक अजीब–सा ग़ुस्सा पनपने लगा था। ये ग़ुस्सा किसी एक चीज़, व्यक्ति, या परिस्थिति के ख़िलाफ़ नहीं था। पर किसके ख़िलाफ़ था, ये कहने में क्वैं एवोल्यूशनरीली असमर्थ था। शायद उसका अंतर इस ग़ुस्से के लिए शब्द ढूंढ़ रहा था और शब्द न मिलने से ग़ुस्सा और बढ़ जाता था। इसका परिणाम ये हुआ कि क्वैं का सहवास भी बड़ा अजीब–सा हो गया। वो सहवास करते–करते अचानक ही अपनी प्रेमिका को मारने लगता या उस पर थूकता, और फिर उसे किनारे धकेल कर नदी में तैरने चला जाता। कबीले में भी झगड़े बढ़ने लगे। क्वैं के मूक समर्थक यानीकि कबीले के बड़े लोग भी अब धीरे–धीरे उससे कटने लगे। वो रात को देर तक जागता। झाड़ियों की सरसराहट की आवाज़ में नए–नए स्वर सुनता और उन्हें जोड़कर कुछ बनाने की कोशिश करता। पर झाड़ियों से आई आवाज़ दोबारा नहीं आती। हर बार नई तरह का स्वर निकलता और क्वैं उन्हें याद करते–करते, जोड़ते–जोड़ते परेशान हो जाता। जिन दिनों बारिश होती, क्वैं की ये उलझन और बढ़ जाती। वो सर उठाकर आसमान को देखता और उसपर टपकती मोटी–मोटी बूंदों की आवाज़ को पीने की कोशिश

करता। मन ही मन 'टप–टप' दोहराता और उस आवाज़ को अपनी लंबी, भूरी जटाओं में बांधने को तड़पता।

जीवविज्ञानी और कवि भी मान सकते हैं कि क्वैं एवोल्यूशन के उस दोराहे पर खड़ा था जहां इंसान की चेष्टा उसके दायरे से बाहर छलांग लगाने लगती है। जब उसे हर तरफ़ सवाल दिखने लगते हैं और उनका जवाब ढूंढ़ने की इकलौती कोशिश पूरी मानव–जाति को फ़ायदा या नुक़सान पहुंचाती है। जी हां, क्वैं को अपनी नियमित शब्दावली अब परेशान करने लगी थी। उसे नए शोर, नई हड़कंप, नई झुनझुनाहट की तलाश थी। क्वैं ये ख़ुद नहीं जानता था, लेकिन उसके अंदर की झुंझलाहट यही थी। उसे अब अपनी गिनी–चुनी आवाज़ों से दिक़्क़त होने लगी थी। इसलिए अब वो दिनभर आवाज़ें इकट्ठी करता फिरता। जहां भी कोई नई ध्वनि सुनता, तुरंत उसे दोहराता, झाड़ियों को परे हटाने की आवाज़, पानी में तैरने की आवाज़, कच्चा फल चबाने की आवाज़, जैसा कि बहुत से महान् अभिनेता करते हैं। पानी में अपनी झलक देखकर निकले ख़ुशी के स्वर और इन आवाज़ों को 'स्टोर' करने के लिए भी उसने एक बढ़िया माध्यम तलाश लिया था। ये माध्यम थे– डैन्यूब के पत्थर।

हुआ यूं कि एक दिन तैरते–तैरते क्वैं के पांव एक झाड़ी में उलझ गए और उसे चोटिल होकर किनारे पर आना पड़ा। पांव घिसटते हुए वो किनारे पहुंचा ही था कि उसे बारिश की आवाज़ सुनायी दी। बिल्कुल वही टप–टपवाली आवाज़। चकराकर क्वैं ने ऊपर देखा पर आसमान एकदम साफ़ था। न बरसात की बूंद और न ही इंतज़ार करता हुआ किसी कवि का चातक। फिर? आवाज़ कैसे आई? और बिल्कुल वही आवाज़ जो क्वैं ने हूबहू रट रखी थी। पैर आगे घसीटा तो मामला साफ़ हो गया। नदी किनारे के दो काले गोल पत्थर थे जो एक दूसरे से रगड़कर वही आवाज़ दे रहे थे। क्वैं बड़ी देर तक वहां उनको रगड़ता रहा। उसके सामने एक ख़ज़ाना खुल गया था। पत्थरों में जो आवाज़ें जिन्हें याद करने के लिए वो कितने दिन भूखा रहा और सोया नहीं था, अब ये पत्थर मिल गए थे। घाटी में फैले हज़ारों लाखों पत्थर जुड़ के हर तरह की आवाज़ निकाल सकते थे जो क्वैं ने कभी सुनी थी या आगे सुननेवाला था। तिथिवार देखा जाए तो क्लिशे का यह पहला प्रयोग था क्वैं की ख़ुशी का कोई ठिकाना ही नहीं रहा था।

अब क्वैं का दिन दो हिस्सों में बंट गया। आधा दिन आवाज़ें सुनने में जाता था और बाक़ी का आधा, डैन्यूब के पत्थरों से वही आवाज़ें रेप्लीकेट करने में। इसके बाद वो 'आज की आवाज़' वाले पत्थरों को अलग–अलग गुच्छों में बांधता और उन्हें अपने कंधे पर लटका लेता। कई दिन तो ऐसा होता कि शाम को कबीले की ओर लौटते वक़्त उसके पास पत्थरों के पचास से ज़्यादा समूह होते। इन सारे गुच्छों को वो बड़े तरतीब से, कबीले के पीछेवाली ज़मीन में सजा देता और फिर देर रात तक उनसे अलग–अलग आवाज़ें बजाता, सुनता और ख़ुश होता। कभी–कभी कबीले के छोटे बच्चे भी ये आवाज़ें सुनकर आ जाते, पर ज़्यादातर क्वैं को पागल ही मानते थे और उसके आसपास मंडराना सबको ही ख़तरनाक़ या फ़ालतू लगता था। कुछ को तो डर था कि क्वैं किसी काले देवता (या रात) की आराधना करता है। सो ले–देकर क्वैं और उसके पत्थर अकेले ही रहते थे। इस बीच एक नई चीज़ ये भी हुई क्वैं ने अपने कबीलेवालों के साथा खाना बिल्कुल ही बंद कर दिया। अब वो कच्ची मछली और फलों पर ही ज़िंदा रहता था। वह शाम को ही कबीले में लौट क्यूं आता था? यह सवाल भी वाज़िब हैं और इसका

जवाब भी शायद उसकी किसी एटाविस्टिक ज़रूरत में छुपा होगा।

महीने बीतते गए और क्वैं का पत्थरोंवाला ख़ज़ाना बड़ा होता गया। खूं और नाह कभी–कभी उसकी ग़ैरमौजूदगी में आकर पत्थरों को छूकर देखते। खूं बेढंग से उन्हें बजाता भी और अजीब–सी आवाज़ सुनकर ख़ूब हंसता। कभी–कभी ग़ुस्से में एकाध पत्थर उठाकर फेंक भी देता, और उस रात क्वैं उससे झगड़ता भी। ऐसे ही एक झगड़े में एक दिन क्वैं ने खूं को मार डाला।

बात यहीं से शुरू हुई कि खूं और एक छोटे लड़के ने दिन में क्वैं के पत्थरों को हाथ लगाया और उनकी जोड़ियां आपस में मिला दीं। शाम को जब क्वैं लौटा तो तुरंत समझ गया कि किसी कबीलेवाले ने छेड़छाड़ की है। ग़ुस्से में आकर उसने ज़ोर–ज़ोर से चिल्लाना शुरू कर दिया। ये चिल्लाना एक तरह का ललकारना था। और क्वैं एक बार तो ख़ुद अपनी आवाज़ सुनकर डर गया। बहुत दिनों से वो पत्थरों की आवाज़ ही सुन रहा था। खूं भी तेज़ी से उठा और क्वैं को ज़ोर से धकेला। इतनी ज़ोर से कि उसका सिर ज़मीन से टकराया और फट गया। क्वैं अभी वापस उठता, उससे पहले ही खूं ने उसके पत्थरों को लात मारना शुरू कर दिया। खूं के पांव बहुत तेज़ चल रहे थे– पत्थर आपस में टकराते हुए, नई–नई आवाज़ें निकालते हुए, अंधेरे में गुम हो रहे थे। क्वैं फटे सिर को पकड़कर ज़ोर–ज़ोर से रो रहा था। उसका रोना बीच–बीच में रुकता, जब पत्थरों के कोई दो गुच्छे आपस में टकराते और कोई ऐसी आवाज़ निकालते जो उसने ख़ुद आज तक नहीं सुनी थी।

क्वैं थोड़ी देर बेतहाशा रोता रहा। लेकिन फिर अचानक से हिम्मत जुटाकर, दौड़कर अपने पत्थरों पर लेट गया। पर खूं का ग़ुस्सा अभी भी हरा था और वो फिर से क्वैं पर ही झपट पड़ा। लेकिन इस बार क्वैं के हाथ में बारिशवाले वो काले गोल पत्थर थे जो 'टप–टप' करते थे। खूं के नज़दीक आते ही ये पूरी ताक़त से उसके माथे में जा पड़े। शायद एक ही वार में खूं अंधा हो गया। उसके बाद क्वैं ने नुकीले पत्थर उठाकर खूं की एक–एक नस काट डाली। क्वैं और खूं की इस लड़ाई में तीन कबीलवाले बीच में आए लेकिन वो भी मारे गए। पास पड़े एक पत्थर के भाले से क्वैं ने एक छोटे बच्चे को भी मार डाला। सुबह होते–होते पूरा कबीला खाली हो गया। लोग डर के भाग गए। कुछ घायलों के साथ और कुछ लाशों के साथ। मान लिया गया कि क्वैं सचमुच रात की ही आराधना करता था। उसके अंदर कोई काली शक्ति आ गई जो पूरे कबीले को खाने पर आमादा थी।

भरतवाक्य

भाषावैज्ञानिकों की एक काफ़ी बड़ी जमात का मानना है कि आधुनिक भाषा किसी एक सभ्यता या काल में नहीं बनी है। इसमें जितना योगदान हमारे कांशस आब्जर्वेशन और लर्निंग का है, उतना ही हमारे स्नायु–तंत्र के विकसित होने का भी। यानीकि आज के जानवरों की तरह, ऐसे बहुत सारे साउण्ड वेरिएशन्स थे जो हम कभी निकाल ही नहीं सकते थे। शायद ऐसे वक़्त में क्वैं के पत्थरों का ख़ज़ाना किसी को मिला हो। ये ख़ज़ाना उसके बाद कहां–कहां गया, कितनों ने उसे समझा, कितनों ने उसमें और जोड़ा और कितनों ने उसे मामूली पत्थर समझकर फेंक दिया, यह कहना मुश्किल है। लेकिन सच यही है कि उसमें से कुछ पत्थर डैन्यूब से बहकर, हम सबके हिस्से में आए हैं और कुछ शायद अभी भी वहीं पड़े हैं– डैन्यूब के किनारे।

विज्ञान शिक्षण परम्परा, आदर्श और यथार्थ

★ सी.एन. सुब्रह्मण्यम

विज्ञान शिक्षा कैसी होनी चाहिए? इस संबंध में उपनिषद् काल के ऋषि उद्दालक के विचार आज भी उतना ही महत्त्व रखते हैं।

हमारे यहां की विज्ञान शिक्षा श्वेतकेतुओं को पैदा कर रही है। श्वेतकेतुओं से तो हम मिलते ही रहते हैं। दुनियाभर की पुस्तकों को सालों तक रटकर भी साधारण लेकिन बुनियादी सवालों पर ये कभी ग़ौर ही नहीं करते है।

प्रस्तुत है विश्व के प्रथम वैज्ञानिक, चिंतक उद्दालक के विचार–

उपनिषद् काल के एक महत्त्वपूर्ण ऋषि थे उद्दालक आरुणि जिनके बारे में कहा गया है कि वे विश्व के प्रथम वैज्ञानिक चिंतक थे। उनके विचार छांदोग्य उपनिषद् में दर्ज हैं। यह ग्रंथ आज से कम से कम 2600 साल पुराना है।

उद्दालक आरुणि एक चिंतक के रूप में तो प्रसिद्ध हैं, लेकिन बहुत कम लोगों ने विज्ञान शिक्षण और वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्रों में उनके योगदान पर नज़र डाली है। वे जितने सुलझे हुए चिंतक थे उतने ही कारगर शिक्षक भी थे। उनके तरीक़े बीसवीं सदी के अंत में उतना ही महत्त्व रखते हैं।

उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु गुरुकुल में समस्त वेदों का अध्ययन करके बारह साल बाद घर आया। इतने सालों की शिक्षा का परिणाम क्या था–

''सर्वान् वेदान् अधीत्य महामनाः अनूचानमानी स्तब्धः''

वह सारे वेदों को पढ़कर घमण्डी, ख़ुद को बहुत

★ एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से संबद्ध। एकलव्य के होशंगाबाद केन्द्र में कार्यरत।

विद्वान समझनेवाला और विनयहीन बनकर घर आया। आज भी जो छात्र 20 साल पढ़कर और पीएचडी की डिग्री हासिल कर आते हैं उनमें से बहुतों की हाल श्वेतकेतु से फ़र्क़ तो नहीं होती है।

उद्दालक अपने पुत्र से पूछते हैं, '' बेटा, क्या तुमने उस चीज़ का अध्ययन किया है जिससे सभी अज्ञात बातें ज्ञात होती हैं?'' श्वेतकेतु का जवाब पता नहीं था। बोला, ''पिताजी इसका ज्ञान तो मेरे गुरुजनों को था ही नहीं, इसीलिए उन्होंने मुझे यह नहीं सिखाया।'' उद्दालक अपने गुस्से को दरकिनार कर बेटे को यह गूढ़ तत्त्व समझाते हैं कि कैसे शून्य से उत्पत्ति असंभव है; कोई चीज़ ही दूसरी चीज़ को जन्म दे सकती है; सृष्टि के सिद्धान्त, विभिन्न जीवों का वर्गीकरण आदि। समझाते हुए वे यह भी बताते हैं कि अन्न ही बुद्धि का आधार है।

काफ़ी देर तो श्वेतकेतु भाषण सुनता रहा। फिर उससे रहा नहीं गया। उसने पिता से कहा, ''ज़रा ठीक से तो समझाइए।'' उद्दालक समझ गए कि कुमार के भेजे में कुछ नहीं घुसा है। उन्होंने नया तरीक़ा अपनाया। वे बोले, ''बेटा, 15 दिन तक बिना अन्न ग्रहण किए मात्र पानी पीकर रहो। फिर मेरे पास आओ।'' 15 दिन बाद बालक लौटा, उद्दालक बोले, ''बेटे, तीनों वेदों का पाठ सुनाओ।'' बेटा बोला, पिताजी वे मुझे याद नहीं आ रहे हैं। ''उद्दालक ने उसे खाना खाकर आने को कहा, अब उसे सारी बातें याद आ गईं। उद्दालक ने फिर से अपनी बात समझाई, अब श्वेतकेतु समझ गया।

इसके बाद उद्दालक फिर से तरह–तरह के तत्त्वों के बारे में ज़िन्दगी की उपमाओं व उदाहरणों द्वारा समझाने लगते हैं। जब बात अति गूढ़ सिद्धान्तों पर आती है तब श्वेतकेतु फिर कहता है, ''भगवन्, ज़रा और विस्तार से समझाइए।'' उद्दालक कहते हैं, ''इस नमक के ढेले को पानी में डाल दो और एक रात बाद मेरे पास आओ।'' अगले दिन वे श्वेतकेतु से बोल, ''उस नमक के ढेल को लाओ।'' श्वेतकेतु ने खोजा मगर नमक का ढेला नहीं दिखा। फिर वे बोले, ''पानी की ऊपरी परत से एक घूंट पीकर बताओ कैसा है?''

''भगवन्, नमकीन है।''

''बीच से पीकर बताओ।''

''नमकीन है।''

''नीचे से पीकर देखो।''

''नमकीन है। नमक पानी में व्याप्त है।''

फिर उद्दालक बोले, ''पानी को फेंककर आओ। तुम नमक को देख नहीं पाए मगर वह पूरे पानी में व्याप्त था। बेटा, जगत का आधार तत्त्व भी इसी तरह व्याप्त है। तुम भी वही हो श्वेतकेतु। (तत् त्वम् असि श्वेतकेतु)।

श्वेतकेतु से तो हम मिलते ही रहते हैं। दुनियाभर की पुस्तकों को सालों तक रटकर भी साधारण लेकिन बुनियादी सवालों पर वे कभी ग़ौर नहीं करते। ऊपर से घमण्ड ब्याज में।

उद्दालक ने उसे समझाने के लिए जो तरीक़े अपनाए वे भी ग़ौरतलब हैं। उन्होंने पहले पता करने की कोशिश की बालक कितना समझता है। फिर बुनियादी सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से और सामान्य जीवन के उदाहरणों व प्रमाणों की मदद से समझाया। इसके बाद सरल प्रयोगों व प्रश्नों से सिद्धान्त को उभारा और फिर उसे स्पष्ट करके पुख़्ता किया।

उद्दालक आरुणि वैज्ञानिक चिंतक थे या आध्यात्मिक इसको लेकर प्राचीन काल से बहस जारी है। हम यहां उस बहस में न पड़कर उनके शिक्षण के तरीक़ों पर चर्चा कर रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि उनकी विधि आज भी खरी उतरती है जिसमें प्रश्न उठाना, सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना, सामान्य जीवन से उसे जोड़ना व प्रयोग द्वारा सिद्ध करना और सबसे महत्त्वपूर्ण शिष्य से

लागतार सवाल जवाब करके उसे ही उत्तर उभरवाना शामिल है।

श्वेतकेतु और उद्दालक आरुणि के इस प्रसंग में कई सामायिक मुद्दे उभरते हैं। मैं इन्हें विज्ञान की व्यापक बहस से जोड़ना चाहता हूं। यह प्रसंग सबसे पहले उस शिक्षातंत्र की सीमा को उजागर करता है जो मतलब समझे बग़ैर ही पोथियों को रटने पर ज़ोर देता है। छात्र समझ तो नहीं बना पाते हैं पर समझने का ढोंग ज़रूर करते हैं और उस पर घमण्ड भी। श्वेतकेतु को तो उद्दालक मिले मगर उसके सैकड़ों सहपाठियों के पालक उनके घमण्ड को सच्ची विद्या का प्रदर्शन मानकर ख़ुद ही हुए होंगे।

हमारे शिक्षातंत्र की मौजूदा स्थिति भी ऐसी ही है। हम साल–दर–साल लाखों श्वेतकेतु पैदा कर रहे हैं। इससे क्या नुक़सान हो रहा है? इसका हमें आभास भी नहीं है।

अलबत्ता स्थिति सौ फ़ीसदी निराशाजनक नहीं है। कई लोगों को इस बात की फ़िक्र है कि हम शिक्षा के नाम पर भावी पीढ़ियों को ज्ञान से विमुख कर रहे हैं। ऐसे ही कुछ लोगों की पहल से एक कार्यक्रम होशंगाबाद विज्ञान मध्यप्रदेश में शुरू हुआ था। उनमें डॉ. यशपाल और डॉ. अनिल सद्गोपाल जैसे देश के शीर्षस्थ वैज्ञानिक एमएससी, पीएचडी करनेवाले छात्रों की दशा से परेशान दिल्ली विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक थे, रोज़ छह घण्टे बच्चों को पढ़ानेवाले शिक्षक थे और कुछ बड़े–छोटे अफसर भी थे। प्रयास था रटंत विद्या को जड़ से उखाड़ फेंकना। शिक्षण की उसी प्रक्रिया में ढालना जिसे उद्दालक ने प्रतिपादित किया था। (मुझे पता नहीं कि वे उद्दालक से कितनी प्रेरणा लिए हुए थे, बहरहाल)। उन्होंने देखा कि रटंत विद्या की जड़ वर्तमान पाठ्यपुस्तकें हैं जो यह मानकर लिखी गई हैं कि पुस्तकें दुनिया की तमाम जानकारी देने के लिए बनी है। दरअसल शिक्षण में जानकारी से अधिक ज़रूरी दो और बातें हैं– याद कीजिए उद्दालक ने कहा था– ऐसी चीज़ जिसे जानने से अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है। वे बातें अवधारणाएं व कुशलताएं। होशंगाबाद विज्ञान में तय किया गया कि शिक्षण में किताब की जो मौजूदा भूमिका है उसमें आमूल परिवर्तन ज़रूरी है। अगर शिक्षण में अवधारणाओं व कुशलताओं पर ज़ोर देना है तो क्रियाकलाप करने व सोचने के मौक़े होने चाहिए। इसमें किताबों की भूमिका एक मार्गदर्शक की बनती है। जानकारी किताब में कम से कम रहे ताकि बिना समझे रटकर 'बुद्धिमान' बनने का नाटक ख़त्म हो। बच्चे ख़ुद क्रियाकलापों से जानकारी पैदा करे। यानी वे उतनी ही बातों को जानें जितना वे समझ सकें और उपयोग में ला सकें।

फ़ारस के प्रसिद्ध कवि शेख सादी ने कहा था, ''आलिम–ए–बेअमल नादान।'' वह विद्वान् जो अपनी जानकारी व समझ को अमल में नहीं जा सकता वह मूर्ख ही है।

शिक्षण 'करके सीखो' विधि से ही होना चाहिए और इसमें समझ और कुशलताओं पर ज़ोर होना चाहिए, आदर्श अरसे से सारी समितियां दोहराती आ रही है। कोई भी ऐसा शिक्षाविद् नहीं है जो इस बात को नकार सके। लेकिन, किसी में हिम्मत नहीं रही कि इस आदर्श को हक़ीक़त में लाने का मतलब खोजे। इन्हें हक़ीक़त में लाने के लिए इस सुखद मुग़ालते को त्यागना होगा कि जानकारी रटना यानी समझ जाना। हम इस भय से त्यागना होगा कि कम जानकारी याद करके कहीं हम पिछड़े तो नहीं रहे हैं।

सवाल सिर्फ़ हिम्मत का नहीं है। किसी आदर्श को गांव के एक 2 कमरेवाली, 100 बच्चोंवाली शाला में हक़ीक़त बनाना ख़ासा मुश्किल काम हैं। व्यवहार में

अगगिनत समस्याएं हैं, बैठने की जगह नहीं, सामान नहीं है तो प्रयोग कैसे करें, शिक्षकों के पास पढ़ने के समय नहीं है... उनमें नए तरीक़े से विज्ञान पढ़ाने के लिए पर्याप्त समझ नहीं है, उन्होंने कभी विज्ञान की डिग्री प्राप्त नहीं की है... वग़ैरह वग़ैरह। अपने आदर्श के प्रति विश्वास है तो इन समस्याओं से जूझकर हल निकाला जा सकता है। नहीं तो वापस उस पद्धति पर लौट सकते हैं जो अज्ञानी और घमण्डी श्वेतकेतुओं का निर्माण करने में माहिर है।

दरअसल विषय विज्ञान हो या भाषा हो या गणित या भूगोल, कोई भी हो, सवाल सिर्फ़ एक ही है। हम बच्चों की क्षमता व समझ को पढ़ाना चाहते हैं या सिर्फ उन्हें डिग्रियों के आभूषण पहनाना चाहते हैं? प्रसिद्ध इतिहासकार लार्ड एक्टन ने कभी कहा था, ''ज्ञान बुद्धि को प्रज्वलित करने के लिए दिया जाना चाहिए उसे याददाश्त पर बोझ बनकर नहीं रहना चाहिए।''आज हमारे हर विषय के शिक्षण में ज्ञान का असर है, यह हम बच्चों के चेहरे पर देख सकते हैं। हमारे सामने और कई बार हमारी मदद से वे इस ज्ञान से छुटकारा पाने के लिए क्या–क्या शॉर्टकट अपनाते हैं– हम सब न केवल उसके गवाह हैं, बल्कि गुनहगार भी हैं।

लोगों के मन में विज्ञान के बारे में एक छवि और धारणा है कि उसमें कुछ विशेष बातों का अध्ययन होता है एटम, मॉलीक्यूल, ग्रेविटि, रिलेटिविटि...। इन्हें बच्चे समझें, न समझें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मगर जब किसी पाठ्यक्रम में ये बातें नहीं होती हैं और आसपास के पौधों, कीड़ों, मिट्टी आदि का अध्ययन होता है तो उनके मन में निराशा/आशंका पैदा होती है। कहीं हमारे बच्चे पिछड़ तो नहीं रहे हैं।

यहां फिर उद्दालक याद आते हैं। वे समझा रहे थे कि सृष्टि और अध्यात्म की गूढ़ बातों को। मगर समझाने के लिए नमक को पानी में घुलवाया, बरगद के बीज को खुलवाया और अन्य ऐसे उदाहरण लिए जिनका प्रत्यक्ष रूप में अध्यात्म या सृष्टि से कोई लेना–देना नहीं दिखता है। लेकिन उनका मानना था कि वैज्ञानिक या आध्यात्मिक तत्त्व हमारे चारों ओर पानी में नमक जैसा मिला है। इन्हीं का ग़ौर से अध्ययन करें तो उन तत्त्वों तक आसानी से पहुंच सकते हैं। आप वर्गीकरण का सिद्धान्त समझकर उपयोग में लाना चाहते हैं तो आप चारों ओर बिखरे पौधों को लेकर वही सब सीख सकते हैं जो लीनियस ने सीखा था। क्या लीनियस की पुस्तक भर को रटने से आप यह बात समझ पाएंगे?

अगर आप भौतिकी के तमाम नियम याद करने के बाद यह नहीं बता पाते कि एक भारी और एक हल्की चीज़ को एक साथ नीचे गिराएं तो कौन सी पहले गिरेगी तो उस अध्ययन से क्या मतलब। गैलीलियो अगर अरस्तू को रटने में खुश रहता तो वह पीसा की मीनार पर चढ़कर चीज़ें नीचे फेंककर क्यों देखता और आधुनिक विज्ञान का आगाज़ क्यों करता?

विज्ञान शिक्षा में कुछ आधारभूत सिद्धान्तों व तरीक़ों पर ज़ोर देने की जरूरत है जो आधुनिक विज्ञान की बुनियाद हैं। ये देखने में सरल लगते हैं मगर उनकी पेचीदगी की खोज ही विज्ञान का इतिहास है। मैं यहां दो उदाहरण देना चाहूंगा वर्गीकरण और मापन। ये दोनों मनुष्य के चिंतन और क्रिया की बुनियाद हैं।

मापन : भारतीय चिंतन में 'मां' 'धातु का अति महत्त्व हैं'; मा यानी मापना। वायु पुराण में सृष्टिकर्ता आदि पुरुष के बारे में कहा गया है 'पुरुष' 'मान'(पैमाने) को धारण करता है, वह अपने आपको खण्डों में बना हुआ मानता है और इसलिए वह 'मती' नाम से जाना जाता है। किसी चीज़ को मापने का मतलब है उसे आकार देना और अस्तित्व में लाना। मन, मय, माया, उमा, प्रतिमा, प्रमा, विमान, प्रमाण ये तथा अनगिनत और शब्द 'मा' से उत्पन्न हुए हैं– सबका आधारभूत

सिद्धान्त व क्रिया मापन है।

आधुनिक वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग में सही और बारीक़ मापन एक आधारभूत कौशल है। आज के जमाने में माईक्रोमिलीमीटर में नापकर चीज़ें बनाना एक आम बात है चाहे आपको लेथ पर नट बोल्ट बनाना हो या कम्प्यूटर की माइक्रोचिप। यह एक आम बात है कि हमारे बच्चे सामान्य स्केल से अपनी कॉपी भी सही–सही नहीं नाप पाते हैं। हमारे कारीगर जो उच्चकोटि की कलाकृतियां बनाते हैं वे भी अहसास के आधार पर चीज़ें बनाते हैं, न कि सही नाप का उपयोग कर। इसका नतीजा यह है कि तेज़ी से बदलते युग में जब आपको निर्देश पढ़कर चीज़ें बनानी है, हमारे कारीगर और बच्चे पीछे रह जाते हैं और यह काम मापन की परिभाषाएं रटकर नहीं होगा। इसके लिए बच्चों को नापने को अभ्यास करवाना होगा।

समूहीकरण : जो लोग विज्ञान के इतिहास और वैज्ञानिक विधि से परिचित हैं, वे समूहीकरण या वर्गीकरण के महत्त्व को बख़ूबी समझते हैं। समान गुणधर्मवाली चीज़ों को साथ रखने पर यह समझने में मदद मिलती हैं कि वह गुणधर्म किन–किन परिस्थितियों में पाया जाता है और क्यों? महत्वपूर्ण बात यह है कि हर चीज़ के जितने पहलू हैं वह उतने ही समूहों में रखी जा सकती है। जब हम रूढ़ियों से हटकर नए–नए गुणधर्मों के आधार पर समूह बनाते हैं तो प्रकृति की नई–नई विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। इसीलिए समूहीकरण और वर्गीकरण को रूढ़ियों में बंद करना ग़लत है। समूहीकरण या वर्गीकरण की क्षमता रूढ़िगत वर्गीकरण का रटकर हासिल नहीं होगी।

इस संदर्भ में उद्दालक की फिर से याद आना स्वाभाविक है। वे शायद पहले चिंतक थे जिन्होंने तमाम जीवों को तीन वर्गों में बांटा– ''तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवत्याण्डजं, जीवजमुद्भिज्जमिति'' –(वे सब केवल तीन तरह की उत्पत्तिवाले हैं– अण्डों से, दूसरे जीवों से और अंकुरों से।) यह कथन अपने आप में एक क्रांतिकारी कथन है क्योंकि यह प्रकृति के बहुत बारीक़ अवलोकन क आधार पर कहा गया है। आज इक्कीसवीं सदी की दहलीज़ पर खड़े हम जीवों को उत्पत्ति के बारे में और भी बहुत कुछ कह सकते हैं, मगर उद्दालक की खोज की सार्थकता इसी में है कि उन्होंने अवलोकनों के आधार पर जीवों के वर्गीकरण का पहला क़दम उठाया।

कुल मिलाकर बात यह है कि हम विज्ञान किसे कहेंगे– तमाम वैज्ञानिकों ने खोजा है मात्र उसे या उसने खोजने के लिए तरीक़े उन्होंने अपनाए उसे भी? समस्या यह है कि खोजों का भण्डार इतना बड़ा है कि कोई उसे अपने दिमाग़ में समेटेगा भी कैसे? अगर कर सकें भी तो क्यों? इनमें से अधिकांश ऐसी हैं जो और परिष्कृत होंगी, बदलेंगी या बिल्कुल ही कूड़ेदान में फिक जाएंगी।

विज्ञान शिक्षण की बुनियाद उन तरीक़ों व कुशलताओं को सीखने में होनी चाहिए जिन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है। बच्चों के मन में जानने की इच्छा जागृत हो, प्रकृति का अवलोकन करने व प्रयोग करने की इच्छा बने, वे उनके लिए ज़रूरी कुशलताओं में माहिर बनें। इन तरीक़ों से बच्चे वैज्ञानिक जानकारी जानें (उतनी ही जितनी वे वास्तव में समझ पाते हैं)।

आख़िर शिक्षा और ख़ासकर विज्ञान शिक्षा का उद्देश्य क्या है? ब्रह्मसूत्र का पहला सूत्र है– ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।'' सूत्रकार ने माना है कि जिज्ञासा ही शुरुआत है। उसके बिना ज्ञान नहीं, विज्ञान नहीं। हज़ारों बच्चों के मन में अनगिनत सवाल उठे और वे उन्हें पूछने का साहस करें– इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है?

★ एकलव्य द्वारा प्रकाशित 'होशंगाबाद विज्ञान' बुलेटिन से साभार।

प्रारम्भिक शिक्षा, सत्ता एवं समाज

★ ए.के. पालीवाल

बालक के जन्म के साथ ही शिक्षा की अनौपचारिक शुरुआत हो जाती है। बालक अपने परिवेश से सीखता है। वह समुदाय के सम्पर्क में आकर सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, संवेगात्मक, भौगोलिक इत्यादि संदर्भों में अर्थ खोजता है। उनसे अन्तःक्रिया करके ज्ञान का सृजन करता है। वह न सिर्फ़ अपने सामाजिक विकास में भागीदार होता है बल्कि वह धीरे–धीरे ही सही अपना मानसिक एवं बौद्धिक विकास भी करता है। इसमें व्यक्तिगत विभिन्नता, क्षमताएं, कौशल, आकांक्षाएं, महत्त्वाकांक्षाएं अपनी भूमिका प्रभावपूर्ण तरीक़े से निभाते हैं।

मानव और पशु–पक्षी में सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर करनेवाली जो रेखा है वह है बुद्धि एवं चिन्तन आदि। मानव सौभाग्यशाली है कि उसके पास यह विलक्षण शक्ति है जिससे वह अपने को ऊपर उठा सकता है। मानव अपनी बुद्धि को प्रखर करने की क्षमता संजोए रखता है। वह सूचनाओं का संग्रह अपने मस्तिष्क में कर सकता है और जब चाहे पुनः याद कर उनका उपयोग कर सकता है। पशु–पक्षियों में यह क्षमता लगभग नहीं के बराबर है। यदि कहीं अपवाद है भी तो वे सार्वभौमिक सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते हैं। मानव का बचपन वह समय है जब वह 'ब्लौटिंग पेपर' की तरह असरकारक सूचनाओं को ग्रहण करता है। शिक्षा की औपचारिक व्यवस्था के अभाव में भी बालक बहुत ही कुशाग्रता से अपना सर्वांगीण विकास करता जाता है। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सत्ता की तरफ़ से किए जानेवाले शिक्षा के औपचारिक प्रयास क्या हों? कैसे हों?, क्यों हों?, और कब किए जाएं?

इस पृष्ठभूमि में हम अपने देश की औपचारिक शिक्षा प्रणाली पर दृष्टिपात करें तो कुछ मोटी–मोटी बातें, जो उभरकर आती हैं, वे इस प्रकार हैं :

(1) हमारे संविधान की व्यवस्था में शिक्षा समवर्ती सूची का हिस्सा है। इसमें प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा राज्य की और उच्च शिक्षा केन्द्र की ज़िम्मेदारी है। केन्द्र ने हमेशा प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी काफ़ी सहयोग किया है। राज्य अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए सफल–असफल रूप से जूझ रहे हैं। इसमें 'बिमारू' राज्यों की हालत तो दयनीय एवं शोचनीय है।

(2) एक जनकल्याणकारी राज्य की भूमिका में शिक्षा 'सोशल सेक्टर' का एक हिस्सा बनाई गई है। चूंकि इसमें सिर्फ़ 'देना' ही है और 'लेने' की गुंजाइश नहीं है। अतः स्वाभाविक है कि राज्य इस कार्य को एक अनावश्यक, अलाभकारी व अनुत्पादक कार्य मानते रहे हैं। और इसका परिणाम या दुष्परिणाम जो भी है वह हमारे सामने है।

(3) सार्वभौमिक प्रारम्भिक शिक्षा (जो अनिवार्य एवं निःशुल्क हो) का सपना दिनांक 6 अगस्त 2009 को एक एक्ट के रूप में हक़ीक़त बन

★ – विद्या भवन शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर में पढ़ाते है।

गया है। इसमें इतना समय क्यों लगा? इसके दर्जनों कारण हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में सबसे प्रमुख कारण, राजनैतिक इच्छाशक्ति की व्यापक कमी रहा है। राजसत्ता वस्तुतः शिक्षा के प्रभावों से अवगत है। उसे पता है कि शिक्षा बालक को 'जागृत' करती है जो राजनीति के लिए ख़तरनाक़ भी हो सकती है। इसलिए सत्ता ने सदियों से अपने राजनैतिक दर्शन के अनुरूप शिक्षा का रसायन तैयार किया है जो तथाकथित पाठ्यक्रम में देखा जा सकता है। यह बात किसी देश तक ही सीमित हो, ऐसा नहीं है। विश्व की हर राजनैतिक व्यवस्था में इसका बीजारोपण हुआ है। जो पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, एकतन्त्र, तानाशाही, राजशाही, कुलीनतन्त्र में देखा जा सकता है।

अपने ही देश की बात कर लीजिए। आज़ादी के पहले शिक्षा क्या थी?, कौन शिक्षा देते हैं?, लौर्ड मैकाले का शिक्षा दर्शन क्या था? और आज़ादी के बाद शिक्षा व्यवस्था में क्या परिवर्तन आया?, ये प्रश्न शिक्षा की हमारी समझ को साफ़ करने में मदद करते हैं। यदि हम आज़ादी के बाद अपने देश के शैक्षिक प्रयासों पर विहंगम दृष्टि डालें तो यह बात तो कम से कम साफ़ हो जाती है कि राज्य ने शिक्षा को स्वीकार तो किया है। यह अलग बात है कि उनकी प्रतिबद्धता उतनी ईमानदार एवं मज़बूत नहीं रही जो कि वस्तुतः व्यापक रूप से होनी चाहिए थी। हम मानते हैं कि आर्थिक कारण भी इसके लिए एक प्रमुख घटक रहा है।

4. शिक्षा और साक्षरता के द्वन्द्व में फंसी हमारी राजनैतिक व्यवस्था को निम्नांकित प्रश्नों से दो–दो हाथ करने पड़ रहे हैं:

(अ) सभी को कैसे शिक्षित किया जाए?

(ब) सभी को समान रूप से गुणात्मक शिक्षा कैसे दें?

प्रो. जे.पी. नायक ने इसे 'छलनेवाला त्रिभुज' (इल्यूसिव ट्राएंगल) की संज्ञा दी है।

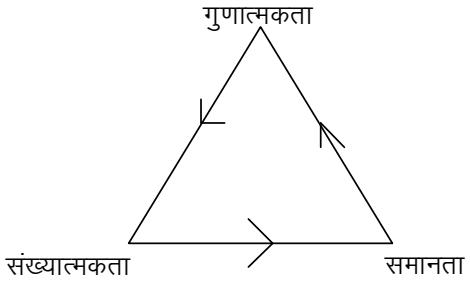

सत्ता (राज्य) इस पहेली को हल करते–करते थक गई लगती है। इस क्रम में राज्य ने सोचा कि गुणवत्ता एवं समानता के मुद्दे बाद में उठाएंगे। पहले ''संख्यात्मकता'' तो सुनिश्चित कर लें। इसका सुखद परिणाम यह रहा कि गांव–गांव, ढांणी–ढांणी, शहर–शहर स्कूल खुलने लगे। जैसे–तैसे विद्यालय भवन खड़े कर दिए गए। जैसे–तैसे दो चार शिक्षक उसमें तैनात कर दिए गए। यह बात अलग है कि ये भवन कैसे हैं?, वहां शिक्षक कैसे हैं?, बालक एवं शिक्षक के बीच सार्थक संवाद हो भी रहे हैं या नहीं?, इस प्रकार के प्रश्नों के पचड़े में राज्य कभी पड़े नहीं। 'सर्व शिक्षा अभियान' इसका जीता जागता उदाहरण है। ख़ैर, संतोष इस बात में है कि भौतिक रूप में विद्यालय अस्तित्व में आ रहे हैं। हालांकि अभी भी ऐसे कई गांव हैं, क्षेत्र हैं जहां विद्यालय भवन तक नसीब नहीं हुए हैं। जहां संख्यात्मकता एक ही प्रमुख उद्देश्य हो वहां गुणवत्ता की बात करना बेमानी है। हमारी चतुर नौकरशाही एवं स्वार्थी राजनीति ने यह खेल बहुत होशियारी से अब तक सफलतापूर्वक खेला है। संविधान के उस प्रावधान (जिसमें 6 से 14 वर्ष तक के बालकों को

निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने का वचन दिया गया है) का क्या हश्र हुआ है? (अगस्त 2009 के अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के बिल को भी ज़रा ग़ौर से पढ़कर ठीक से समझना होगा) अब जब विश्व बैंक एवं अन्य वैश्विक शक्तियां (अपने निहित स्वार्थों से?) शिक्षा में रुचि ले रहे हैं तो हमें शिक्षा के बारे में सोचना पड़ रहा है?

इन शक्तियों के दबाव में हमने ''उच्च शिक्षा'' को 'नान–मेरिट गुड' करार दिया है। आर्थिक दबाव के चलते हमने 'प्रारम्भिक शिक्षा' और 'साक्षरता' को अपना निशाना बनाना शुरू कर दिया है। बाज़ार की शक्तियां अब यह तय करने लगी हैं कि शिक्षा का उद्देश्य क्या हो?, शिक्षा कैसे दी जाए?, क्या पढ़ाया जाए?, माना कि एक गतिशील समाज में यह सब होगा। लेकिन अहम सवाल यह है कि क्या राज्य को अपनी 'जनकल्याणकारी' भूमिका त्याग देनी चाहिए? क्या अच्छी शिक्षा सिर्फ़ मलाईदार वर्ग को ही उपलब्ध रहेगी? क्या आर्थिक संसाधनों पर सिर्फ़ पूंजीवादी व्यवस्था ही क़ब्ज़ा बनाए रखेगी?

हमें बहुत गम्भीरता से सोचना होगा कि

(1) हम कैसा मानव समाज चाहते हैं?

(2) हमें कैसा संसार चाहिए?

(3) क्या उस समाज में शांति, सामंजस्य (हारमनी) नहीं चाहिए?

(4) यह सब कैसे होगा?

(5) क्या इसके लिए शिक्षा से बेहतर और कोई प्रभावी उपाए है?

(6) हमें किस प्रकार की शिक्षा चाहिए?

(7) राज्य, सत्ता एवं समाज इसमें कैसे सहयोग कर सकते हैं?

यदि इन मौलिक प्रश्नों पर विचार करें और अपनी तथाकथित राजनैतिक व्यवस्था पर नज़र डालें तो एक दुःखद तस्वीर उभरती है।

इस संबंध में हम एक ताज़ा उदाहरण लेते हैं। अचानक हमारी सत्ता को लगा कि प्रारम्भिक शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। भारत जैसे विशाल देश का कल्याण इसी के माध्यम से होगा। संविधान के प्रति अपनी निष्ठा भी उजागर हो जाएगी। ऐसी और कई बातें ध्यान में रखकर 'राज्य' ने अनिवार्य एवं निःशुल्क 'प्रारंभिक शिक्षा विधेयक बिल' को संसद में पारित करा लिया है।

इसमें इसकी बातों पर एक समालोचनात्मक नज़र डालनी चाहिए।

(1) ''इस बिल में लिखा गया कि राज्य 6 से 14 वर्ष के बालकों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा।'' इसे पढ़कर शिक्षा जगत् में ख़ुशी की लहर दौड़ गई है। सबको लगता है कि इससे देश का कायाकल्प हो जायेगा। देश की मूल समस्या अशिक्षा है। जब अशिक्षा नहीं रहेगी तो ग़रीबी, साम्प्रदायिकता एवं असमानताएं दूर हो जाएंगी। काश ऐसा हो पाता। लेकिन मैं अनिल सद्गोपल के इस विचार से सहमत हूं कि यह विधेयक शिक्षा में समानता की जगह विषमता पैदा करेगा। इस बिल में सिर्फ़ 6 से 14 वर्ष तक की आयु के बालकों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की बात की गई है। लेकिन ज़रा निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार कीजिए :

(1) क्या शिक्षा सिर्फ़ 6–14 वर्ष की आयुवर्ग के बालकों के लिए है? इसमें शून्य से 6 वर्ष की आयु के बालकों की शिक्षा का क्या होगा? क्या राज्य उनकी शिक्षा को शिक्षा नहीं मानता?

इस आयुवर्ग के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा नहीं होगी तो 6–14 वर्ष के आयुवर्ग के बालकों की शिक्षा में गुणात्मकता कैसे आएगी? शिक्षा तो जन्म के साथ शुरू हो जाती है। घर, परिवार के अतिरिक्त बालक प्री–नर्सरी, नर्सरी एवं प्री–प्राइमरी शिक्षा का भी हक़दार है। उन सबका क्या होगा?

(2) इस विधेयक में 6–14 वर्ष के आयुवर्ग के बालकों की निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के लिए राज्य वित्त की व्यवस्था करेगा। इस विधेयक में यह स्पष्ट नहीं है कि यह धन कहां से आएगा?, कैसे आएगा?, कैसे ख़र्च किया जायेगा? इन मौलिक प्रश्नों पर यह विधेयक मौन है।

(3) विधेयक में गुणात्मक शिक्षा की बात भी कही गई है। जब वित्त की व्यवस्था के संबंध में स्पष्ट नीति एवं प्रावधान ही नहीं है तो भौतिक एवं मानवीय संसाधन कहां से आयेंगे?, जब संख्यात्मक वृद्धि ही नहीं हो पा रही है तो गुणात्मकता कैसे आएगी? इस गुणात्मक शिक्षा के मायने क्या हैं? इन प्रश्नों पर भी इस विधेयक में चुप्पी साध ली गई है।

(4) इस विधेयक में 'पड़ोसी विद्यालय' का ज़िक्र किया गया है। 'पड़ोसी विद्यालय' से क्या तात्पर्य है?, किसे पड़ोसी विद्यालय माना जायेगा?, क्या इसमें सिर्फ़ सरकारी विद्यालय ही होंगे या निजी अथवा ग़ैर सरकारी विद्यालय भी होंगे?

क्या 'पड़ोसी विद्यालय' के सम्प्रत्यय का संबंध कोठारी आयोग में वर्णित पड़ोसी विद्यालय से है?

ऐसे कई प्रश्न हैं जिन पर गंभीर विचार–विमर्श ज़रूरी है। हमारे राजनेता शिक्षा के प्रति कितने सचेत एवं संवेदनशील हैं? इस बात का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि राज्य सभा में मात्र 60 के लगभग माननीय सासदों की उपस्थिति में यह विधेयक पास हो गया। लोक सभा में यह कार्य 1–2 दिन में बिना सार्थक चर्चा के पास होकर क़ानून बन गया है। आश्चर्य की बात यह है कि अनावश्यक मुद्दों पर चीखने–चिल्लानेवाला मीडिया भी इस बात पर ज़्यादा सक्रिय नहीं दिखता। किसी बड़े अख़बार ने इस पर सम्पादकीय नहीं लिखा। किसी अख़बार ने इस पर आलेख छापना मुनासिब नहीं समझा। किसी ज़िम्मेदार टीवी चैनल ने इसे चर्चा के लायक नहीं माना। इनकी बात तो छोड़िए, एकाध शिक्षाविद् के अलावा तथाकथित शिक्षाविदों ने इस पर गोष्ठी नहीं की। दुःखद आश्चर्य है कि शिक्षकों को इस बिल की सामान्य जानकारी भी नहीं है। इस पर कोई चिन्तन, चर्चा, विमर्श कुछ नहीं हो रहा है। ऐसे में 'विकसित राज्य' बनने का सपना कैसे हक़ीक़त बन पाएगा? हम पर्यावरण पर बात करना जानते हैं। हम 'एड्स' पर बात करते हैं। हम 'आतंकवाद' पर बोलते नहीं थकते। हम 'कम मतदान' पर आंसू बहाते हैं। हम 'साम्प्रदायिकता' पर शोर मचाते हैं। लेकिन हमारे पास 'शिक्षा' पर बात करने का समय नहीं है। गांधीजी, यह देश आपके 'स्वराज' एवं 'जन कल्याणकारी' सपने को हक़ीक़त में कब बदलेगा? क्या यह सपना ऐसे ही दफ़न हो जाएगा?

नई तालीम में पुस्तकालय का स्थान

★ मार्जरी साइक्स

नई तालीम के कार्यकर्त्ता इस बात को मानते हैं कि शिक्षा पुस्तकों पर अवलंबित नहीं है; और सिर्फ़ कुछ पाठ्य–पुस्तकों तक ही उसे सीमित करना शिक्षा का उपहास करना है। हमारे इस कथन का कभी–कभी यह अर्थ लगाया जाता है कि नई तालीम में पुस्तकों को कोई स्थान नहीं है। यह बिलकुल ग़लत ख़्याल है; परन्तु यह अभी तक मौजूद है और हमें समय–समय पर इस बात का स्मरण करना होगा कि नई तालीम में पुस्तकों का वाज़िब स्थान क्या है।

बात वास्तव में यह है कि पुस्तक सिर्फ़ एक उपकरण है, हमारी शिक्षा को संचालित करनेवाला शासक नहीं; एक साधन है, साध्य नहीं। हमने अपनी पुस्तक 'उत्तर–बुनियादी शिक्षा' (अंग्रेज़ी) में इस सिद्धान्त की चर्चा और स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है– ''पुस्तकें सिर्फ़ उपकरण हैं, अति बहुमूल्य साधन। और ज्यों–ज्यों शिक्षा का स्तर (दर्जा) ऊंचा उठता जाता है, उनकी उपयोगिता (महत्त्व) बढ़ती जाती है। पुस्तकों को जानकारी के साधन के रूप में उपयोग में लाना चाहिए, जैसी और जब उनकी ज़रूरत पड़े, उनकी मदद लेनी चाहिए। आनन्द के स्रोत (उपकरण) के रूप में उनका अनुभव लेना चाहिए। पुस्तकों को जीवन और जीवन की प्रक्रियाओं (कामों) के एवज़ में नहीं बल्कि जीवन को अधिक पूर्ण बनाने में और अधिक प्रभावशाली काम करने में सहायक के रूप में मानना चाहिए। एक अच्छा बुनियादी स्कूल बच्चों को खोज की भावना से और आनन्द पाने की भावना से पुस्तकों को पढ़ना सिखायेगा। पाठ्यपुस्तकों के रूप में पुस्तक पढ़ाने की भावना में ये दोनों बातें नहीं होती हैं।

तब फिर हम स्कूल–पुस्तकालय का किस तरह उपयोग करें कि यह नई तालीम की सच्ची उद्योगशाला बने?

सबसे पहली बात तो यह है कि हम अपने आपसे पूछें कि पुस्तकालय का अर्थ क्या है? मद्रास विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध पुस्तकपाल श्री रंगनाथन् ने कहा है कि 'पुस्तकालय सिर्फ़ पुस्तकों के भंडार नहीं, बल्कि सम्मेलन होता है। पुस्तकालय की सफलता पुस्तकों की संख्या से नहीं बल्कि पुस्तकों और विद्यार्थियों के बीच कितनी बार सम्मेलन हुए और उन सम्मेलनों का विद्यार्थियों के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा– इस तथ्य से आंकी जानी चाहिए।'' नई तालीम की भाषा में हम पूछेंगे– ''क्या इससे विद्यार्थियों को मानसिक और नैतिक प्रेरणा मिली? आनन्द प्राप्त हुआ? भावनात्मक संतोष मिला? क्या पढ़ाई का जीवन के अनुभवों के साथ तादात्म्य हुआ?''

इसी दृष्टि से हमें तालीमी संघ पुस्तकालय के 1954–55 साल के काम पर विचार करना होगा। अप्रैल 1954 तक यह पुस्तकालय अलग–अलग विभागों में बंटा हुआ था। क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति

नहीं था जो पूरे पुस्तकालय की ज़िम्मेदारी ले सके। केन्द्रीय पुस्तकालय भाषा के आधार पर दो भागों में विभाजित किया गया था। सभी पुस्तकें बंद आलमारियों में रखी गई थीं, जिनमें हर कोई हमेशा पहुंच नहीं सकता था।

हम इस व्यवस्था की ख़ामियों को समझते थे परन्तु यह स्पष्ट था कि अगर इसमें कोई बड़ा परिवर्तन करना है तो पुस्तकालय को कई हफ़्तों के लिए बंद करना होगा और पुस्तकालय के काम में अनुभवी कार्यकर्त्ताओं को अपना समय देना होगा।

ऐसा मौक़ा मई–जून 1954 में मिला। गर्मी में बहुत कम लोग यहां थे और बिना किसी ग़ैरवाजिब असुविधा के पुस्तकालय बंद रखा जा सकता था।

हमारा मुख्य उद्देश्य था पुस्तकों को वाचकों के सम्मेलन को अधिक से अधिक सरल और आनंददायी बनाया जाय। इसे प्राप्त करने का मुख्य तरीक़ा यह है कि पुस्तकालय की पुस्तकों को वाचकों के लिए खुला रखा जाय, वाचकों की स्वतंत्रता हो कि वे स्वतंत्रतापूर्वक घूमकर पुस्तकों को बाहर निकालें, उन्हें देखें, पढ़ें और अपनी ज़रूरत के अनुसार उपयोगी पुस्तक ले लें।

पुस्तकालय का भवन एक बड़ा हाल है, जिसमें एक मुख्य केन्द्र है ओर दो विभाग (कमरे) हैं। मुख्य कमरे और इन कमरों के बीच में कमानी है। इस भवन के तीन दरवाज़े थे। इस पुनर्व्यवस्था में दो मुख्य बातें ये करनी थी कि तीन की बजाय एक ही दरवाज़ा रखा जाय (ताकि पुस्तकालय में प्रवेश का नियंत्रण किया जा सके) और अधिक से अधिक प्रकार की व्यवस्था की जाय। आजू–बाजू के दो दरवाज़ों को खिड़कियों में बदला गया, जिनके नीचे दीवाल की शेल्फ बनाई गई। इनसे हवा तो मिलती है मगर प्रकाश बहुत कम मिलता है क्योंकि इनके आगे नीचे छतवाला बरामदा है। ज़्यादा प्रकाश आने के लिए तीन आलमारियों को, जो पश्चिमी दीवाल में बनी हुई थीं। फोड़कर खिड़कियाँ बनाई गयीं– हर एक कमरे में एक–एक। अंदर की दीवाल पर सफ़ेदी की गई ताकि प्रकाश अधिकाधिक मात्रा में फैले।

मई 1954 में पहला आधा भाग इन्हीं तब्दीलियों में चला गया। फिर पुस्तकों को आलमारियों को इस प्रकार जमाया गया कि जगह और प्रकाश का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके। यह देखा गया कि उस समय जो आलमारियां थीं, वे पुस्तकालय के लिए अनुपयोगी थीं। उनकी चौड़ाई बहुत ज़्यादा थी और खंड भी दूर–दूर थे; इसलिए उनके उपयोग के व्यर्थ की जगह जाती थी। ये आलमारियां दूसरे विभागों को, जिन्हें इनकी आवश्यकता थी, दे दी गयीं। और इनक बदले 6 शेल्फ बनाये गये जो दोनों आलमारियों के दोनों कोनों में फिट बैठ गये। चार छोटे टेबल और एक छोटी आलमारी पुस्तकपाल की चीज़ें रखने के लिए बनवायी गयीं। लोहे का एक केबिनेट बाहर से मंगाया गया, जिसमें कार्डों से बनी पुस्तकसूची रखी जाती है।

इसके बाद का क़दम क्रांतिकारी था। दो को छोड़कर शेष सभी आलमारियों के पल्ले निकाल दिय गये। दो आलमारियों में पल्ले ख़ास काम के लिए रहने दिये। पल्ले निकाल देने का बहुत बड़ा मनौवैज्ञानिक असर पड़ा। जो विद्यार्थी पुस्तकालय में जाता है उसे बंद दरवाज़े नहीं बल्कि खुली हुई पुस्तकों से सामना होता है जो हाथ में आने के लिए कुलबुलाती हैं। पुस्तकालय को अधिक अच्छा 'सम्मेलन स्थल' बनाने के लिए हमने जो–जो बाह्य उपकरण किये उनमें से यह शायद सबसे महत्त्वपूर्ण था। लेकिन हमें इस बात का विश्वास नहीं था कि यह चीज़

प्रत्यक्ष व्यवहार में सफल होगी। हमें भय था कि इस प्रकार खुली रखने से पुस्तकों पर वर्षा, धूल और कीड़ों का क्या प्रभाव होगा। पूरे एक साल तक हमने इन पल्लों को कब्जे और खीले (स्क्रू) समेत तैयार रखा कि यदि ज़रूरी हुआ, तो इन्हें फिर से लगा देंगे। परन्तु इन्हें फिर से लगाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। सन् 1954 में काफ़ी ज़ोरदार बारिश हुई परन्तु पुस्तकों पर इसका कोई बुरा प्रभाव नज़र नहीं आया; बल्कि पिछले सालों की आर्द्रता से जितना नुक़सान हुआ था, उससे भी इस साल कम ही हुआ। गर्मी में धूल से उन्हें बचाना पड़ा। परन्तु यह भाव कि किताबें खुली आलमारियों में हैं, हमें हमेशा सफाई के लिए प्रेरित करता रहता था। जहां तक कीड़ों का सवाल है, खुली आलमारियां जिन पर समय–समय पर गेमेक्ज़ीन या डी.डी.टी. छिड़का जाता था उनसे क़रीब–क़रीब पूरी तरह मुक्त थीं। हां, बंद आलमारियों में ज़रूर इनके पैदा होने और बढ़ने का ख़तरा रहता है। इसलिए उन्हें भी समय–समय पर साफ़ करना पड़ा। साल के अंत में 17 जोड़ी पल्ले मकान–विभाग को अन्यत्र उपयोग के लिए दे दिए गए।

दूसरा क़दम था– यह तय करना कि पुस्तकों को किस प्रकार जमाया जाय, अलग–अलग विभागों में बांटा जाय? सामान्य रूप से पुस्तकों को विषयों के अनुसार बांटा जाता है। जब वाचकों को पुस्तक स्वयं चुनने की स्वतंत्रता देनी है, तो यह अच्छा होता है कि उन्हें एक विषय की पुस्तकें एक ही जगह पर मिल सकें। 'इतिहास', 'शिक्षा', 'गणित' आदि बड़े–बड़े विषयों के खंड को भी अधिक छोटे खंड में विभाजित करना चाहिए; जैसे– 'आदि–पुरुष', 'चीन', या 'गुजरात का इतिहास' आदि। खंडों और उपखण्डों के विस्तार की सहूलियत के लिए पुस्तकों को क्रम संख्या देने की कई विधियां ढूंढ़ निकाली गई हैं। इन पर विस्तार से चर्चा करने का यहां समय नहीं है। इतना ही कहें कि यह दशमलव की एक सरल प्रणाली से किया जाता है। इसमें एक ही उपखंड में भाषा के अनुसार पुस्कालयों में भाषा की ठीक–ठीक व्यवस्था करना सचमुच में एक बड़ी समस्या है। एक ही प्रकार की पुस्तकों को एक सामूहिक क्रम संख्या देने से बहुत–सी दिक़्क़तें कम हो जाती हैं।

प्रारंभिक छंटनी (और दशमलव प्रणाली के आधार पर पुस्तकों पर क्रम संख्या लिखना इस पुनर्व्यवस्था का सबसे कठिन और कष्टसाध्य भाग था। बड़े विभागों में पुस्तकों का पुनर्विभाजन जैसे ही पूरा हुआ, पुस्तकालय उपयोग के लिए खोल दिया गया और पुस्तकों को उप खंडों में बांटना, पुस्तकों को साफ़ करना, दुरुस्त करना और पुस्तकों की रीढ़ पर क्रम–संख्या लिखना आदि छोटे–मोटे काम साथ–साथ चलते रहे। इस प्रकार समय अधिक लगा, लेकिन पुस्तकालय को बंद रखने की अपेक्षा यह देर अच्छी।

29 जून 1954 को हमारे लगनशील पुस्तकपाल 'दादू' (डॉ. जॉन कार्डिस) के हाथों औपचारिक रूप से पुस्तकालय को फिर से खोल गया। एक छोटा–सा जलसा हुआ और जिसमें पुस्तकालय की पुनर्व्यवस्था को समझाया गया और कार्यकर्त्ताओं और विद्यार्थियों में से उन लोगों को पुस्तकालय कार्ड दिये गये जिन्होंने पुस्तकालय सुधार के प्रारंभिक कामों में मदद दी थी। दूसरे दिन से प्रतिदिन (साप्ताहिक छुट्टी का दिन छोड़कर) कुछ समय के लिए पुस्तकालय खुला रखा गया ता. 20 अप्रैल 1955 तक, जबकि छुट्टियों के कारण इसे बंद कर दिया गया। इस प्रकार सन् 1954–55 में क़रीब 10 माह पुस्तकें दी गयीं।

सेवाग्राम नई तालीम परिवार के सदस्य इस पुस्तकालय

के सदस्य बन सकते हैं। इनके सिवाय आसपास के देहातों के शिक्षक, कस्तूरबा अस्पताल के कार्यकर्त्ता आदि भी इसके सदस्य बन सकते हैं, जिन्हें तालीमी संघ ने स्वीकार किया है। नई तालीम परिवार के कार्यकत्ताओं या विद्यार्थियों को तभी सदस्य पत्र दिया जाता है, जब वे इसके लिए कहते हैं। सन् 1954–55 में कुल सदस्य संख्या 297 थी।

इनमें से 72 सदस्यों ने वर्ष में प्रत्येक ने एक से चार पुस्तकें पढ़ीं। औसत दो पुस्तकें। इनमें से कुछ तो देर से आये हुए विद्यार्थी थे और कुछ कार्यकर्त्ता थे, जिनके पास स्वयं की पुस्तकें हैं। कुछ ऐसे विद्यार्थी थे, जिन्हें पढ़ने का बहुत कम शौक़ है और सिर्फ़ विशेष कार्यक्रम के लिए कोई पुस्तक ले गये।

इस अवधि में कुल 4366 पुस्तकें और 229 पत्र–पत्रिकाएं (कुल 4595) पढ़ने के लिए दी गयीं। 5 या इससे अधिक पुस्तकें पढ़ने वाले साधारण अच्छे 225 वाचकों ने, प्रत्येक ने औसतन 20 पुस्तकें पढ़ीं। एक व्यक्ति ने अधिक से अधिक 78 पुस्तकें पढ़ीं। पत्र–पत्रिकाएं देने की प्रथा देर से आरंभ की गयी थी, अन्यथा इनके वाचकों की संख्या और भी अधिक होती।

पहले पुस्तकें रजिस्टर में दर्ज करके पढ़ने को दी जाती थीं। अब कार्ड–प्रणाली शुरू की गई। यह बहुत सफल रही। यह सरल है, इसमें ग़लती की संभावना कम है और इससे इस बात का पता लगाया जा सकता है कि विद्यार्थी ने क्या–क्या पढ़ा है। इस जानकारी का बहुत महत्त्व है। हरएक सदस्य एक साथ 4 पुस्तकें या पत्र–पत्रिकाएं ले सकता है। उसके नाम पर चार सदस्य पत्रक बनाए जाते हैं, जो कि पुस्तकालय में एक पेटिका में डेस्क पर रखे रहते हैं। हरएक सदस्य की एक सदस्य संख्या होती है जो कि उसके हरएक कार्ड पर ऊपर दाहिनी ओर लिखी रहती है और ये कार्ड क्रम से पेटिका में रखे रहते हैं ताकि किसी को भी आसानी से निकाला जा सकता है। हरएक पुस्तक के साथ एक कार्ड होता है जिसपर पुस्तक का नाम और संख्या लिखी रहती है। यह पुस्तक के पिछले कोने पर रखा रहता है, जबकि पुस्तक पुस्तकालय में रहती है।

विद्यार्थी पुस्तकालय में जाता है, आलमारियों के पास जाकर एक या दो पुस्तकें चुनता है और उन्हें द्वार के निकट पुस्तक–देन–डेस्क पर लाता है। पुस्तकपाल या उस जगह काम करनेवाला स्वयंसेवक पुस्तक में से कार्ड निकालता है और पुस्तक लेनेवाले विद्यार्थी का भी कार्ड पेटिका से निकलता है। फिर पुस्तक कार्ड पर विद्यार्थी की सदस्य संख्या और विद्यार्थी के कार्ड (सदस्य–पत्र) पर पुस्तक की क्रम–संख्या दर्ज करता है। फिर वह दोनों कोर्डों पर और पुस्तक के पीछे लगी हुई चिप्पी पर पुस्तक लौटाने की (साधारणतः पुस्तक लेने के 14 दिन बाद की) तारीख़ डाल देता है। फिर वह पुस्तक विद्यार्थी को देता है और वह दोनों कार्ड पुस्तकालय में ही रख लेता है। पुस्तक देने का समय पूरा होने पर दोनों प्रकार के कार्डों पर की संख्या की मिलान करके जांच लिया जाता है कि कोई ग़लती तो नहीं की गई। फिर सदस्य–पत्र क्रमवार जमाये जाते हैं और फिर उसे लौटाने की अंतिम तारीख़ में एक साथ जमा किये जाते हैं। पुस्तक कार्ड भी क्रमवार अलग पेटिका में रखे जाते हैं।

जब पुस्तक लौटाई जाती है, पुस्तकपाल उसमें वापसी की अंतिम तारीख़ देखता है; फिर उस तारीख़ के लिए जमा किए गये कार्डों में उस सदस्य का कार्ड देखता है और पुस्तक की क्रम संख्या देखकर उसका कार्ड भी निकालता है। दोनों पर हस्ताक्षर करके पुस्तक–कार्ड को पुस्तक में रख देता है। सदस्य का कार्ड या तो उसे पुस्तक उसे

उसी समय उपयोग करने (अर्थात् दूसरी पुस्तक लेने) के लिए वापस किया जा सकता है अथवा पेटिका में तब तक के लिए रखा जा सकता है, जब तक कि उसकी फिर से ज़रूरत न पड़े।

इस प्रणाली के कई लाभ हैं। पहला यह कि इसमें उसे प्रतिदिन ऐसे सदस्यों की सूची आप ही आप मिल जाती है, जिनकी पुस्तक लौटाने की अवधि बीत चुकी है। दूसरा, यदि कोई पुस्तक आलमारी में नहीं है, तो पुस्तकपाल पेटिका में उस पुस्तक का कार्ड देखकर यह बता सकता है कि किसने वह पुस्तक ले रखी है और कब तक वह वापस आनी चाहिए। तब उस कार्ड एक सूचना पिन से चिपकायी जा सकती है कि यह पुस्तक फिर से उस पाठक को अधिक अवधि के लिए न दी जाय और वापस आने पर अमुक सदस्य को दी जाय।

ऊपर जो आंकड़े दिये गये हैं, वे सब सदस्य–पत्रों पर दी गई पुस्तकों को गिनकर बड़ी आसानी से पाये गये हैं। इन कार्डों से और भी दिलचस्प जानकारियां मिल सकती है। हरएक पुस्तक पर दी गई संख्या सिर्फ़ क्रम–संख्या ही नहीं है; इसका एक अर्थ होता है, यह पुस्तक का विषय है और भाषा की द्योतक है। इसलिए सदस्य के कार्ड पर दर्ज पुस्तक–संख्याओं को देखकर यह मालूम किया जा सकता है कि वह कृषि संबंधी पुस्तकें पढ़ता रहा है या सर्वोदय अर्थशास्त्र, या रसायनशास्त्र, या जागतिक इतिहास या हिन्दी कविता आदि संबंधी। पुस्तकपाल यह भी पता लगा सकता है कि विद्यार्थी अधिक मात्रा में कहानी–उपन्यास पढ़ता है अथवा गंभीर विषयों की पुस्तकें, क्योंकि पुस्तक की भाषा भले ही अज्ञात हो, पुस्तक की संख्या पुस्तक का प्रकार घोषित कर देती है। साल के अंत में सदस्य के कार्डों को देखकर बिना किसी श्रम के इस बात का पूरा–पूरा पता पा सकते हैं कि उसने क्या–क्या पढ़ा है। यह ज़रूर है कि इससे यह पता नहीं लगा सकते कि ली हुई पुस्तकों से उसने कहां तक ज्ञानार्जन किया है जो कि किसी भी प्रणाली से जानना संभव नहीं है। इसी प्रकार पुस्तकों के कार्डों को देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि कौन–कौन सी पुस्तकें अधिक पढ़ी जाती हैं और कौन सी पुस्तकें कम या बिलकुल नहीं पढ़ी जाती है।

उपर्युक्त कथन में पुस्तकालय तालीमी महत्त्व की बात आ गयी है। पुस्तकों को विषयवार बांटने से और पुस्तकों के पास जाने की खुली स्वतंत्रता देने से पुस्तकालय के लिए यह संभव हो गया है कि वह जिज्ञासुओं को बता सके– ''भारतीय उत्सवों के बारे में आपको अमुक आलमारी (शेल्फ) में पुस्तकें मिल सकेंगी; पुस्तकों की संख्या 351 से 352 है।''... ''हिन्दी सीखनेवालों की सहायक पुस्तक की संख्या 724.2 है। यह उस शेल्फ के ऊपरी खंड में है।'' इत्यादि। इस प्रकार विद्यार्थियों को कई पुस्तकें देखकर अपनी ज़रूरत की पुस्तक ढूंढ़ निकालने की आदत हो जाती है। शिक्षक स्वयं पुस्तक चुनकर विद्यार्थी को दे, उसका यह उलट है।

इसके सिवाय ख़ास–ख़ास प्रसंगों (जैसे कि सूर्य ग्रहण या चंदग्रहण) के बारे में उपयोगी जानकारी देनेवाली पुस्तकों की और नई या मरम्मत की गई पुस्तकों की जानकारी देने के लिए कुछ ख़ास तख्तियां टांगी गई हैं। विद्यार्थियों के साप्ताहिक समय–पत्रक में (कार्यक्रम में) कुछ समय पुस्तकालय भेंट के लिए दिये जाते हैं, जब वे पुस्तकपाल या अपने शिक्षक के मार्गदर्शन में पुस्तकालय में आते हैं। इनसे ख़ास लाभ यह हुआ है कि नये विद्यार्थियों को और छोटे बालकों को पुस्तकालय की जानकारी मिलती है और वहां आने की उनकी हिचक मिट जाती है। सामूहिक रूप से पढ़ने के कार्यक्रम गांधी

जयन्ती और बुद्ध जयन्ती के अंतर्गत किये गये। रसोई–घर, आरोग्य–भवन और सफ़ाई–विभाग में काम करनेवाले विद्यार्थियों को उन विषयों पर पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया गया।

पुस्तकालय की अत्यंतावश्यकता की पूर्ति करने के विचार से पुस्तकालय काम की एक शाखा के रूप में इस साल पुस्तक बंधाई (ज़िल्दसाजी) और मरम्मत का एक उप–उद्योग चालू किया गया। निस्संदेह, पुस्तकालय एक जीवित संस्था है और जीवन का अर्थ ही है टूट–फूट–घिसावट और मरम्मत तथा नवीनता की मांग। यह मांग और भी अधिक तीव्र इसलिए थी कि कई पुस्तकें बहुत पुरानी हैं और इससे भी अधिक संख्या में नई और पुरानी ऐसी पुस्तकें हैं जिनकी बंधाई (ज़िल्द) बहुत कमज़ोर और सस्ती – अतः पुस्तकालय के उपयोग के अनुपयुक्त थी। कई बार ऐसी कच्ची ज़िल्दवाली पुस्तकों को खरीदना ही पड़ता है क्योंकि पक्की ज़िल्द में वे मिलती नहीं हैं। लेकिन तुरन्त ही उन्हें पक्की जिल्द में बिठा देनी चाहिए और उसके बाद ही उन्हें वाचकों को पढ़ने के लिए देना चाहिए, उससे पहले नहीं। ज़िल्दबाज़ी एक ऐसा उद्योग है जिसका शैक्षणिक महत्त्व बहुत काफ़ी है। सन् 1955–56 से इसे अलग विभाग के रूप में चलाया जायगा।

पुस्तकालय के काम के साथ–साथ विद्यार्थियों ने जो दूसरा उद्योग किया वह है बढ़ई काम। कई आलमारियों के शेल्फ ठीक अंतर पर लगाये गये, ताकि कोई भी पुस्तक (अपवादस्वरूप बहुत ही बड़ी पुस्तक को छोड़कर) उसमें रखी जा सके। दो अलमारियों में खंड बहुत ही दूर–दूर थे। उनमें बीच में एक–एक शेल्फ और डाले गये। इस प्रकार अब उनमें अधिक पुस्तकें रखी जा सकती हैं। एक पुरानी आलमारी को तोड़कर उससे पत्र–पत्रिकाओं रखने का स्टैण्ड बनाया। कुछ खिड़कियों के पल्ले इस प्रकार फिट किये गये कि वे खुलने पर दीवाल पर सट जांय, उजाले को रोकें नहीं।

जब यह पुनर्व्यवस्था की जा रही थी, कई लोगों ने यह भय प्रकट किया कि स्वतंत्रतापूर्वक पुस्तकें देखने देने के लिए पुस्तकें अधिक तदाद में गुम होंगी परन्तु अनुभव से ऐसा नहीं पाया गया। सन् 1954–55 में कुल 16 पुस्तकें पढ़नेवालों द्वारा खोयी गईं। ज़ुर्मानें से कुल 9 रु. 10 आने प्राप्त हुए।

जुर्माने की रकम प्रायः शीघ्र ही स्वयं प्रेरणा से चुका दी जाती थी। जो विद्यार्थी नक़द जुर्माना नहीं दे सकते थे, उन्हें सूत की गुंडी के रूप में यह देने को कहा जाता था। ज़ुर्माने का उद्देश्य पुस्तकालय की आमदानी बढ़ाने का नहीं हैं, बल्कि विद्यार्थियों में यह ज़िम्मेवारी पैदा करना है कि सामुदायिक वस्तुओं की हिफ़ाज़त अच्छी तरह करनी चाहिये। इसी प्रकार अवधि से ज़्यादा पुस्तकें रखनेवालों को दण्ड देने के उद्देश्य से नहीं बल्कि उनमें समय का ख़्याल रखने की आदत डालने के विचार से जुर्माना वसूल किया जाता है। एक संतोषजनक बात यह थी कि पुस्तकें अच्छी हालत में ही पुस्तकालय में लौटाई जाती थीं। पुस्तक को ख़राब करने की प्रवृत्ति नहीं पायी गई।

प्रयोग के रूप में पुस्तकालय भिन्न–भिन्न समय पर खुला रखा गया। सबसे ज़्यादा सुविधाजनक समय दोपहर के भोजन के बाद एक घंटा और रविवार को करीब ढाई घंटे खुला रखना है। इतने बड़े पुस्तकालय का काम ठीक ढंग से चलाने के लिए पुस्तकपाल और एक सहायक को प्रतिदिन डेढ़ और रविवार को पुस्तकपाल और दो सहायकों को तीन घंटे समय देना चाहिए। प्रति रविवार को क़रीब 8 लोगों को डेढ़ या दो घंटे दो–दो की जोड़ी में पुस्तकालय की सफ़ाई करनी पड़ती है।

इसका अर्थ यह है कि हम पुस्तकपाल के काम को पूरे समय का या आधे समय का काम नहीं समझते। इतनी बड़ी दूसरी कई संस्थाएं इसे पूरे समय का काम समझती हैं; और यहां भी पुस्तकपाल प्रतिदिन पूरे आठ घंटे का काम कर सकता है। उससे पुस्तकालय को लाभ ही होगा। परन्तु यदि हम पूरे समय का एक पुस्तकपाल रखते है तो यह ख़तरा है कि हम पुस्तकपाल को पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का एक साधन न मानकर उसे स्वयं एक साध्य मान बैठें, यह ख़तरा है कि हम नई तालीम के इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जांय कि अपनी प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बुद्धिपूर्वक सहकारी परिश्रम का अनुभव ही सच्ची शिक्षा का आधार है। हमने पुस्तकालय को आनन्द और उत्साह के साथ–साथ जानकारी मिलने का एक स्थान बनाने का प्रयत्न किया है; परन्तु हमें इसे 'हाथी–दांत का किला' ही नहीं बना देना चाहिए। पुस्तकालय और पुस्तकालय का काम एक बड़ी चीज़ के भाग हैं; हमें इस भाग को पक्का बनाते समय उस बड़ी चीज़ को अपने ध्यान से हटाना नहीं चाहिए। पुस्तकपाल तब एक अधिक अच्छा पुस्तकपाल बनेगा, विद्यार्थियों को पुस्तकों से प्रभावपूर्ण ढंग से मिलायेगा, जब वह विद्यार्थियों के समान अपना आधा समय खेतों में, उद्योग–भवन में या रसाई–घर में बितायेगा। शिक्षा का इससे महान् अवसर क्या होगा कि एक पुस्तक–प्रेमी (पुस्तकालय) जो श्रम का भी प्रेमी है, तालीमी संघ के जैसे पुस्तकालय को विद्यार्थियों के समुचित विकास का साधन बनाये! यह विकास उसी दिशा में हो, जिस ओर विद्यार्थी स्वयं प्रेरणा से अपनी रुचि के अनुसार बढ़ना चाहें।

हम यह कह सकते हैं कि इस पुस्तकालय का काफ़ी गंभीरता और बुद्धिपूर्वक उपयोग किया गया। यह वह साधन, मिलन–स्थल था जहां हम पुस्तकों के माध्यम से महान् व्यक्तियों से मिलते हैं। इससे सिर्फ़ कुमारों और वयस्कों को ही, जिनकी संख्या सदस्यों में सबसे अधिक है, आनन्द नहीं मिला बल्कि चार–चार वर्ष के बालकों को भी जो अपनी मां या पिता को साथ लेकर चित्रों की पुस्तक पसंद करने आते थे। वहां शांत रहना चाहिए, इस नियम का सबने सम्मान किया। हमें विश्वास है कि हम जो भी सुविधा वाचकों का दे सकें, उन्हें उन्होंने आनंद व कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है। श्री रंगनाथन् की व्याख्या अनुसार पुस्तकों और विद्यार्थियों के मिलन को साधने में हम काफ़ी हद तक सफल रहे। हां, अभी शायद हम वाचन को जीवन अनुभव से पूर्णतया ओतप्रोत नहीं कर पाए हैं। इसके तत्त्व मौजूद हैं। अगले वर्ष इस समन्वय की साधना हमारे कार्य का केन्द्र होगा।

★ नई तालीम, हिंदुस्तानी तालीमी संघ, संपादक मंडल–आशादेवी, मार्जरी साइक्स
वर्ष–4, अंक–1, जुलाई, 1955 से साभार।

स्कूल में सफलता के मार्ग में दस बाधाएं

★ हैरो पैसो

सफलता जो इस बात से नापी जाती है कि वह विभिन्न परीक्षाओं में कितने अच्छे पर्चे करता है। कानून के अनुसार जिस आयु तक स्कूल में पढ़ना जरूरी है, क्या उसके बाद भी वह उच्च शिक्षा व ट्रेनिंग के लिए पढ़ाई जारी रखता है यह बात सीधे तौर पर उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि से ताल्लुक़ रखती है। अधिकतर राष्ट्रों में यह ताल्लुक़ इतना सीधा है कि स्कूलों में यह आरोप लगाया जाता है कि स्कूल छांट–छांटकर विद्यार्थी दाखिल करके यथापूर्व स्थिति को क़ायम रखने में मदद करते हैं, न कि व्यक्तिगत क्षमताओं और अभिरुचियों के विकास में।

लगभग पिछले पच्चीस वर्षों में शिक्षा का उल्लेखनीय रूप से जनतंत्रीकरण हुआ है। इस प्रवृति का पता इस बात से लगता है कि स्कूलों में भर्ती होनेवाले विद्यार्थियों और विभिन्न प्रकार के शैक्षिक प्रोग्रामों की संख्या में और स्कूलों पर खर्च की जानेवाली धनराशि में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है।

फिर भी शिक्षा के समान अवसर

प्रदान करने का लक्ष्य आज भी इतना दूर है कि वहां तक विश्व के अधिकांश देशों को पहुंचना बाक़ी है। इसके बावजूद कि अधिकांश सरकारें आज सार्वभौमिक शिक्षा लागू करने के लिए सार्वजनिक रूप में वचनबद्ध हैं। लेकिन सच तो यह है कि शिक्षा की जो सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं, उनमें पूरा लाभ उठाने में बच्चों की एक बहुत बड़ी तादाद असमर्थ रहती है। बहुत से तो विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों में दाख़िला तक पाने वंचित रह जाते हैं और बहुत से स्कूल ऐसे कार्यक्रम तैयार करने या ऐसी सेवाएं प्रदान करने में असमर्थ दीखते हैं जो उन बच्चों और युवाओं की ज़रूरतें पूरी कर सकें, जिनके लिए वे खोले जाते हैं।

कुछ समूह सजातिक नहीं हैं– अर्थात् इन समूहों के सभी सदस्य एक जैसे नहीं हैं– न उनके बच्चे ही इस कारण स्कूल में पिछड़ जाते हैं, क्योंकि वे किसी ऐसे वर्ग में नहीं आते।

फिर भी, कुछ ऐसे कारण हैं जो कक्षा में दाख़िल होने के बाद ही बच्चे की पढ़ाई में रूकावट या बाधा डाल सकते हैं।

एक

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर वह एक ऐसे परिवार से आता है जो ग़रीब है।

ग़रीबी बच्चे को स्कूल में सफलता पाने के अवसरों पर बुरा प्रभाव डाल सकती है। एक बच्चा जो लगातार भूखा रहता है, उसे स्कूल के सबक पर पूरा ध्यान केन्द्रित करने में कठिनाई होगी ही। एक बच्चा जिसके मां–बाप उसे ज़रूरत के कपड़े नहीं बनवा सकते, शारीरिक असुविधा महसूस कर सकता है या अपने से बेहतर कपड़ेवाले सहपाठियों के सामने लज्जित महसूस कर सकता है।

एक बच्चा जो भीड़–भाड़वाले घर में रहता है, जहां भोजन हमेशा कम पड़ जाता है या ठीक से संतुलित क़िस्म का नहीं होता है, जहां सफ़ाई की व्यवस्था इतनी खराब है कि उसे तरह–तरह की बीमारियां लग सकती हैं, वह स्कूल का काम पूरा कर सकेगा, इसकी संभवना कम है। एक बच्चा अगर वह देखता है कि उसके पास–पड़ोस के वयस्क लोग या तो बेकार मारे–मारे फिरते हैं या फिर बहुत मामूली नौकरियां करते हैं, तो वह अपने भविष्य की संभावनाओं के बारे में सीमित लक्ष्यों का विकास कर सकता है।

दो

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर उसे अपनी मानसिक क्षमताओं और भाषा का विकास करने के लिए केवल सीमित अवसर ही प्राप्त होते हैं।

मध्य वर्ग के बच्चों के मुक़ाबले एक ग़रीब बच्चे को अपनी मानसिक क्षमताओं और भाषा का विकास करने के अत्यन्त सीमित अवसर प्राप्त होते हैं। निम्न और मध्य वर्ग के बच्चों के सोचने के शैलियों के भेद अकसर इस बात का नतीजा होते हैं कि उनके मां–बाप विशेषकर उनकी माताएं उनके साथ किस ढंग से बोलती हैं और परिवार के एक–दूसरे के प्रति किस प्रकार का व्यवहार चलता है।

बच्चा कक्षा में अपने साथ सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ लेकर आता है, वह होती है उसकी प्रभावी भाषा। निम्न वर्ग के घर बच्चों को अनेक प्रकार के उद्दीपन प्रदान करते हैं। और उनके अंदर अनेक योग्यताओं और क्षमताओं पर विकास में मदद करते हैं, लेकिन वे अक्सर उन्हें उस कोटि का अनुभव प्रदान करने में असफल रहते हैं, जो एक बच्चे को स्कूल में अध्यापक की मांगों की पूर्ति करने में मददगार साबित हो सकें।

ग़रीब परिवार के बच्चों को अकसर चाक्षुष प्रतीकों में भेद करने या फ़र्क़ देखने में, मूर्त कार्यों के विपरीत सामान्य प्रत्ययों का प्रयोग करने में, और स्कूल संबंधी कार्य की सफलता के लिए ज़रूरी अन्य योग्यताएं प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार, स्कूल ऐसे बच्चे से उन बातों की अपेक्षा करता है, जिनके लिए शैशव और आरम्भिक बचपन के अनुभवों ने तैयार नहीं किया है। जिससे वह शुरू से ही अनुत्तीर्ण होने लगता है।

तीन

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर उसके घर व पड़ोस के जीवन मूल्यों और कक्षा के मूल्यों में तीव्र अन्तर्विरोध हो।

मूल्य, दृष्टिकोण, आत्मा संबंधी धारणाएं और सफलता पाने की प्रवृत्ति सामाजिक वर्गों से संबंधित हैं। वे मूल्य और आदर्श जो एक बच्चे और उनके परिवार के लिए महत्त्वपूर्ण और अर्थवान् हैं, संभव है कि उनसे सर्वथा भिन्न हों, जो अध्यापक और स्कूल के दूसरे कर्मचारियों का मार्गदर्शन करते हैं।

आचरण व्यवहार के वे तरीक़े, जो परिवार एवं पड़ोस में पसन्द किये जाते हैं और जिनके लिए बालक को शाबासी मिलती है, संभव है कि उन्हें स्कूल के अधिकारी बुरा बतायें और उनके लिए बालक को दण्ड भी दें।

विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने और स्कूल में सफलता पाने की बात को विभिन्न संस्कृतियों और जातीय समूह एक जैसा मूल्य नहीं देते। नतीजा यह है कि स्कूल के लक्ष्यों को घर में समर्थन मिल सकता है और नहीं भी। यह देखकर कि घर और पड़ोस में जिस आचरण को पसन्द किया जाता है, उसके बारे में बालक एक गहरी उलझन में पड़ जाता है।

बच्चा जैसे–जैसे बड़ा और परिपक्व होता जाता है, उसके लिए अभिजात वर्ग के मूल्य और आचरण के मानदण्ड अधिक महत्त्वपूर्ण होते जाते हैं। दरअसल, अभिजातवर्गीय संस्कृति युवाओं के आचरण पर इतनी हावी हो सकती है कि एक विद्यार्थी उन मूल्यों का तिरस्कार या उनकी अवहेलना कर सकता है, जिन्हें उसका परिवार या स्कूल सिखाने की कोशिश करते हैं, अगर वे उनसे विपरीत हैं, जो अभिजातवर्ग को महत्त्वपूर्ण लगते हैं। मूल्य, दृष्टिकोण और भावनाएं, ये सब स्कूल के वातावरण में अपना योग देते हैं और विद्यार्थी क्या सीखता है और किन बातों को महत्त्वपूर्ण मानता है, इस पर इस वातावरण का गहरा असर पड़ता है।

चार

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर वह किसी अल्पसंख्यक क़ौम या नीच जात का सदस्य हो।

विशेष रूप से अगर वे नज़र आते हों या पहचाने जाते हों तो उन बच्चों को, जो अल्पसंख्यक क़ौमों या नीची जातों के सदस्य हैं और जिनके प्रति समाज में व्यापक रूप से भेदभाव बरता जाता है, स्कूल में पिछड़ सकते हैं। एक बच्चे को अगर भेदभाव का सामना करना पड़ता है, या अगर यह सोचता है कि उसके साथ भेदभाव बरता जाता है तो इसका अपने और अपनी हैसियत के बारे में उनकी भावनाओं, उनकी क़ौम के बारे में उसके सहज अभिमान और अपनी सफलता की संभावनाओं पर गहरा असर पड़ता है।

निम्न वर्ग के बच्चों या भिन्न संस्कृति में पले बच्चों के बारे में अध्यापक तथा स्कूल के अन्य कर्मचारियों की जो निम्नकोटि की आशाएं होती हैं, अक्सर

उनके बच्चों के अंदर अपनी सफलता के बारे में पहले से मौजूद निम्न धारणाओं को और भी पक्का कर देती है। चूंकि यह उम्मीद की जाती है कि ऐसे बच्चे सफल नहीं होंगे, अध्यापक उन्हें ध्यान देकर नहीं पढ़ाते और जब वे फ़ेल हो जाते हैं, तो मानों स्कूल की भविष्यवाणी, कि ऐसे बच्चे तो फ़ेल होंगे ही, पूरी हो जाती है।

भिन्न क़ौमों और भिन्न भाषा–भाषी बच्चों को स्कूलों में निम्न कोटि की तालीम दी जाती है। स्कूल के कर्मचारियों में पूर्वाग्रह और विद्वेष होने के कारण बच्चों के साथ भेदभाव बरता जाता है, उन्हें आगे बढ़ने का का अवसर भी नहीं दिया जाता। कुछ मिसालें ऐसी भी मिलती हैं कि कुछ समूह अपनी संस्कृति की रक्षा और समृद्धि के लिए कोशिश करते हैं और स्कूल की ओर से किय गये प्रयत्नों को मिटाने की कोशिश के रूप में उन्हें देखते हैं। भेदभाव के कारण कुछ विद्यार्थी सफलता पाने में असमर्थ रहते हैं।

पांच

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है अगर वह प्रवासी है।

खेत–मज़दूरों के बच्चों को, जो फ़सल के मौसमों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते हैं, खानाबदोश कबीलों, जिप्सियों और घूम–घूमकर काम करनेवाले श्रमिकों को बच्चों को लगातार स्थानान्तरण करना पड़ सकता है। ऐसे भ्रमणशील बच्चे, चाहे कितने भी विविध अनुभव प्राप्त कर लिये हों और विभिन्न क़िस्म के काम सीख लिये हों, लेकिन स्कूल में या तो इन योग्यताओं की कोई मान्यता नहीं दी जाती या उन्हें महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता।

अक्सर भ्रमणशील बालक का स्कूल या अन्य सार्वजनिक एजेन्सियों द्वारा बोझ ही माना जाता है। चूंकि स्कूल में उनकी हाज़िरी अनियमित होती है, इसलिए अध्यापकों को समझ नहीं आता कि वे ऐसे भ्रमणशील बच्चों के साथ क्या करें, और वे इस इंतज़ार में रहते हैं कि वे फिर कहीं चले जायं। भ्रमणशील बालक इसलिए पढ़ाई में पिछड़ जाता है, क्योंकि स्कूल या तो ऐसे कार्यक्रम तैयार करने में असमर्थ होता है या तैयार करना ही नहीं चाहता, जिनमें उनके निरन्तर भ्रमणशील जीवन और सांस्कृतिक पद्धति का पूरा विचार रखा जाता हो।

छः

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर शिक्षा का माध्यम उसकी अपनी मातृभाषा या बोली न हो।

अपने शैशव काल में एक बच्चा जो भाषा सीखता है या अपने घर में जिस भाषा को बोलता है अर्थात् जो उसकी 'मातृभाषा' है वह अक्सर उससे भिन्न होती है, जिसका प्रयोग स्कूल में अध्यापक करते हैं या जिसका प्रयोग उन पुस्तकों और पाठ्यसामग्री में किया जाता है, जिसका वह इस्तेमाल करता है। इस प्रकार अन्य योग्यताओं और क्षमताओं के अलावा, स्कूल में सफलता पाने के लिए जिसकी अपेक्षा उससे की जाती है, उनमें से एक नयी भाषा का सीखना भी हो सकता है।

उसकी मातृभाषा या उनके बोलने का पैटर्न यदि अभी तक परिनिष्ठित नहीं है तो बच्चा पिछड़ सकता है। अध्यापकों द्वारा प्रयुक्त भाषा अगर बालक के घर में बोली जानेवाली भाषा से भिन्न है तो उसे स्कूल में सफल होने के लिए एक अपरिचित भाषा के सबक को समझने और उसका प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करनी होगी। स्कूल अगर उसकी अपनी मातृभाषा या बोली का तिरस्कार या उसकी अवहेलना करता है, अगर अध्यापक

उन बच्चों को दण्ड देते हैं, जो अपरिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करते हैं, तो इससे स्वयं अपने और अपने परिवार के बारे में बालक की भावनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

सात

एक बालक पिछड़ सकता है, अगर वह भौगोलिक दृष्टि से एक अलग–थलग निर्जन स्थान का निवासी हो।

एक बालक को किसी दूरदराज, गांव या बहुत छोटी झोपड़ी में रहता हो, उसे इस दृष्टि से असुविधा हो सकती है कि उसके लिए स्कूल की व्यवस्था उपयुक्त न हो या भौतिक रुकवटों के कारण वह उपलब्ध शैक्षिक सुविधाओं का पूरा लाभ उठाने में असमर्थ हो या स्कूल में पढ़ाने की बात को उसके यहां विशेष मूल्य न दिया जाता हो। मिसाल के लिए उसके मां–बाप की यह धारणा हो सकती है कि बालक को घर के काम को करने की दृष्टि से स्कूल की पढ़ाई अपेक्षाकृत महत्त्वहीन होती है।

ग्रामीण और नागरीय क्षेत्रों में सांस्कृतिक और भाषागत भेदों के कारण स्कूल में बालक की सफलता पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। यहां तक कि महानगर के एक ग़रीब और घनी बस्तियों में रहनेवाले बच्चे भी भौगोलिक विलगाव की स्थिति में हो सकते हैं, इस दृष्टि से कि अपनी बस्ती से बाहर की दुनिया के साथ उनका रेडियो और टेलीविजन के द्वारा सम्पर्क बहुत कम या बिलकुल नहीं होता हो। इस प्रकार ग़रीब और घनी बस्तियों के बच्चों के अनुभवों और स्कूल में दी जानेवाली पाठ्यसामग्री में उतना ही बड़ा अंतर हो सकता है, जितना एक दूरदराज गांव के बच्चे को महसूस होता है। इसलिए स्कूल में उसकी असफलता की संभावना भी उतनी ही बड़ी होती है।

आठ

एक विद्यार्थी स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर वह लड़की है। धार्मिक सम्प्रदायों और विभिन्न संस्कृतियों में एक लड़की की शिक्षा का अलग–अलग मूल्य आंका जाता है। लड़कियों को स्कूल में कितने साल तक पढ़ाना चाहिए, उन्हें किस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए और उनके लिए किस स्तर की योग्यता वांछित है, इनके बारे में विभिन्न संस्कृतियों की अलग–अलग धारणाएं हैं। कुछ समूह लड़कियों को स्कूल में भेजने की बात तक का विरोध करते हैं, विशेषकर अगर ऐसे स्कूलों में सहशिक्षा है।

कुछ धार्मिक सम्प्रदायों में इस बात को लेकर मतभेद है कि शिक्षा को कितना मूल्य दिया और एक बच्चे की जीवन की संभावनाओं को बदलने में स्कूल की क्या भूमिका होती है। उदाहरण के लिए कुछ धार्मिक सम्प्रदायों का विचार है कि एक बच्चे की सामाजिक–आर्थिक विकास संभावना बढ़ाने में स्कूल का कोई योगदान नहीं होता, इसलिए वे स्कूल में सफलता को कोई महत्त्व नहीं देते।

नौ

एक बालक स्कूल संबंधी अन्य अनेक कारणों से भी पिछड़ सकता है।

अध्यापक–वर्ग, पढ़ाई के प्रोग्राम, सेवाएं, पाठ्यसामग्री, संगठन, परीक्षा–विधि और एक समाज के साथ स्कूल के संबंध जिसका वह एक अंग है। ये सब बातें एक बालक की सफलता की संभावनाओं को प्रभावित करती है। ऐसे अध्यापक जो तैयारी करके नहीं आते और अयोग्य हैं, ऐसा पाठ्यक्रम जो बिलकुल असंगत है, स्कूल का अन्य साजो–समान जो अपर्याप्त या बेकार हैं, ऐसे कर्मचारी, जो विद्यार्थियों

की उपलब्धियों के बारे में यथार्थपरक दृष्टि नहीं रखते या उनसे मामूली आशाएं ही रखते हैं, विद्यार्थियों को ऐसे ग्रुपों में बांटना जो कुछ विद्यार्थियों की संभावनाओं को सीमित कर देते हैं। ऐसे स्कूल का जिनमें चुन–चुनकर ही विद्यार्थी भर्ती किये जाते हैं और जो ग़रीबों के बच्चों के साथ भेदभाव या जाति–भेद और भाषा–भेद की नीति का पालन करते हैं। ये सब विद्यार्थी की सफलता पर प्रभाव डालते हैं।

अधिकांश समाजों में और अधिकतर स्कूलों की शैक्षिक प्रक्रियाओं में बहुसंख्यक सम्प्रदायों का प्रभुत्व चलता है, जिसके कारण उनसे भिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि में पले विद्यार्थियों के लिए विकास के अवसर सीमित हो जाते हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि, अलगाव, गलत पाठ्यक्रम तथा प्रशासकीय विषमता, ऐसी स्थिति पैदा कर देती है जो कुछ बालकों को पिछड़ी स्थिति में डाल दे, जिससे सफलता पाने की संभावनाएं कम हो जाती हैं।

दस

सामाजिक पृष्ठभूमि एवं स्कूल की सफलता।

दुनियाभर के राष्ट्रों में चाहे वे विकसित हों या विकासशील हों, जहां कम या ज़्यादा मात्रा में नगरीयकरण और औद्योगीकरण हो चुका है, वहां विद्यार्थियों की काफ़ी बड़ी संख्या पिछड़ेपन की स्थिति में स्कूलों में दाख़िल होती है।

ऐसे विद्यार्थी अक्सर ग़रीब परिवारों से आते हैं, या अल्पसंख्यक क़ौमों या नीची जातियों के होते हैं, या ऐसी भाषा या बोली बोलते हैं, जो बहुसंख्यक सम्प्रदाय के मानदण्ड से भिन्न होती है या किसी अलग–थलग क्षेत्र के निवासी होते हैं, या औरत–जाति के होते हैं, या किसी एक ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय से आते हैं, जो शिक्षा को नीची निगाह से देखता है, या प्रवासी होते हैं। अंशत विद्यार्थी जिस पिछड़ेपन की अवस्था सामना करता है वह उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि और परिवेश से उत्पन्न होती है, और अंशतः वह स्कूल से ही पैदा होती है। सामाजिक पृष्ठभूमि और शिक्षा संस्थानों का वातावरण दोनों ही मिलकर सफलता–असफलता का कारण बनते हैं।

शैक्षिक अवसर की बराबरी एक ऐसा विचार है जिसके पीछे शिक्षा संबंधी, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक और कई प्रकार की समानताओं का भाव अंतर्निहित है। विद्यार्थी की सामाजिक पृष्ठभूमि और स्कूल में उसकी सफलता में जो गहरा संबंध है उसकी स्वीकृति तो इस समस्या को समझने की दिशा में पहला क़दम है। उन लोगों की सफलता के अवसर बढ़ाने के लिए किस प्रकार के परिवर्तन करने ज़रूरी होंगे, जो अनेक कारणों से इस समय पिछड़ी अवस्था में है।

★ नई तालीम, हिंदुस्तानी तालीमी संघ, सेवाग्राम, सितंबर 1972 के अंक से साभार।

डायरी के पन्ने

वो एक लड़की

★ संगम

कुछ समय से उदयपुर के सरकारी और गैर सरकारी स्कूलों में गतिविधियों के माध्यम से बच्चों के साथ काम करना शुरू किया। एक गतिविधि केन्द्र उदयपुर में टेकरी के एक सरकारी स्कूल में चल रहा है। गतिविधि सेन्टर एक ज़रीया है स्कूल में सीखने–सिखाने की प्रक्रिया को बढ़ावा देने का।

गतिविधि केन्द्र पर हम स्कूल खुलने से एक घंटा पहले और स्कूल बंद होने के बाद एक घंटे तक रूकते थे। वो समय बच्चों के लिए था, जो अपने गृहकार्य में किसी तरह की मदद चाहते है, या उन्हें कोई और मदद की ज़रूरत हो। इन दो घंटों के दौरान जो बच्चे किसी दूसरे स्कूल के हैं या फिर वो स्कूल ही नहीं जाते उन्हें भी आने की अनुमती थी। वो चाहे तो पढ़ सकते है, चित्र बना सकते है या खेल सकते है। सब उन पर निर्भर था।

जब मैंने गतिविधि केन्द्र में जाना शुरू किया तो मुझे शुरू एक घंटा खाली बैठना

★ विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र पर कार्यरत।

पड़ता था और शाम को भी। क्योंकि कोई भी बच्चा अभी मुझे नहीं जानता था। जानने और पहचानने में थोड़ा समय तो लगता ही है। काफी दिन तक ऐसा चलता रहा। फिर एक दिन कक्षा 5 की एक लड़की ज्योति मेरे पास आती है और पूछती है कि क्या मैं आज रूक सकती हूं? मैंने कहा कि हां क्यों नहीं। उसने मुझसे एक किताब ली और उसमें से देखकर एक दिन चित्र बनाने लगी। अगले दिन भी उसने चित्र बनाया। और उसके बाद अगले दिन भी। चौथे दिन वो मुझसे कुछ बातें करने लगी। उस वक्त मैं एक किताब पढ़ रही थी, जिसमें सिलाई और कढ़ाई के बारे में लिखा था। बातें करते-करते यकायक वो मुझसे पूछती है कि मैडम, आपको क्या सीलना आता है? मैंने कहा हां। फिर वो मुझे सलाई, क्रोशिये के बारे में पूछने लगी। उसने मुझे बताया कि ''मेडम मुझे सिलाई नहीं आती, क्या आप मुझे सिखा दोगे?''

आज मैंने फिर रंग निकाल के रख दिये। मुझे पता चल गया था कि बच्चों को स्कूल के वक्त कोई चित्रकारी का मौका नहीं मिलता । इसलिए वे ज्यादातर समय चित्र बनाने में लगाते हैं। आज आख़री कार्य दिवस होने की वज़ह से छुट्टी डेढ़ घंटा पहले ही हो जाती है। बच्चे चले जाते है पर कुछ रूक जाते है रंग करने को। पर ज्योति कहती है कि आज वो अंग्रेजी पढ़ेगी। और आधा घंटा चित्रकारी करने के बाद वह अंग्रेजी की किताब ले कर मेरे पास आ जाती है। मैं उसको पाठ समझाती हूं और फिर वो खुद अभ्यास करने लगती है। आज ज्यादा बच्चे नहीं रूके थे, तो मेरे पास काफी समय था। पाठ पढ़ने के बाद ज्योति फिर से चित्रकारी करने लगी। थोड़ी देर चित्रकारी करने के बाद वो फिर मेरे पास आ गई। मैंने पूछा कि तुम इतनी देर तक स्कूल में क्यों रहती हो? क्या तुम्हें घर जाना अच्छा नहीं लगता? तो उसने कहा कि उसे स्कूल में रहना पसंद है। धीरे-धीरे वो मुझे सब बताने लगी।

''मुझे नानाजी लेने आते हैं। यहां मैं अपनी नानी के घर में रहती हूं। हम पापा के साथ नहीं रहते। वहां पर शाम को सब दारू पीने लग जाते हैं। घर पर आ जाते हैं, शोर मचाते हैं। नानी कहती है कि वहां रहना ठीक नहीं, और फिर नानी मुझे यहां ले आई। मेरी पढ़ाई की वज़ह से। हम चार भाई-बहन हैं। मैं सबसे बड़ी हूं। मुझे अपने भाई-बहन पसंद नहीं। उनकी नाक बहती रहती है। गंदे रहते हैं। बस जो सबसे छोटी है वो थोड़ा ढंग से बात करती है। वो प्राइव्हेट स्कूल में जाती है तो उसे पता है कैसे बोलना है। वो अभी पापा के घर में है। मां भी अभी वहीं है।''

मेरी उससे इतनी बात हुई और फिर मुझे समझ में नहीं आया कि मैं उसे क्या कहूं। इसमें से कुछ शब्द शायद वो होंगे जो उसने अपनी नानी से सुने होंगे। जब वो दूसरों को बताती होगी कि वह क्यों नानी के घर में है। थोड़ी देर बाद हमने दूसरी बातें शुरू कर दी और फिर हम उठ कर दुबारा कक्षा की तरफ चल पड़े।

नाम या कुछ ओर...

मैंने वहां लगभग हर कक्षा के साथ काम किया है। पर यहां में आपके साथ अपने कक्षा पहली के अनुभव बांटना चाहती हूं। ये स्कूल एक कच्ची बस्ती में स्थित हैं। और जो बच्चे स्कूल में आते हैं वे ज्यादातर उन परिवारों से हैं जिनके माता-पिता ने स्कूल का मुंह नहीं देखा है। उनके माता-पिता या तो मूर्ति बनाने का काम करते हैं या फिर उनका अपना ही कोई काम है। स्कूल में क्या चल रहा है, इससे उन्हें कुछ ज्यादा लेना-देना नहीं है। मुझे कक्षा पहली के साथ काम करना था या यूं कहिए कि मैंने कक्षा पहली को चुना। यहां बच्चों की मेवाड़ी भाषा है। फिर भी बच्चे हिन्दी समझ लेते हैं और अपनी बात समझाने लायक बोल लेते हैं।

यहां मैं कक्षा एक और दो के बच्चों की बात कर रही हूं जिन्हें स्कूल में दाखिला लिए कुछ ही वक्त हुआ है। इन बच्चों के साथ क्या करना है इस पर सोच रही थी मैंने अंग्रेजी पढ़ाने की सोची। कुछ बच्चों को अंग्रेजी की वर्णमाला लिखनी आती है। पर इसका मतलब क्या है, वो नहीं जानते थे। तो मैंने शुरू किया उनके नाम से। भाषा की दुनिया में नाम अपना न होकर भी बेहद अपना होता है। कुछ ध्वनियां मिलकर किस तरह अपनी पहचान बन जाती है। तो मैंने उन्हीं ध्वनियों को एक सार्थक आकार देने का सोचा। किसी भी कक्षा में आप जाते हैं तो भी सबसे पहले आप सब बच्चों का नाम पूछते हैं। तो मैंने भी कुछ ऐसे ही शुरूआत की। बस नाम पूछने के साथ-साथ मैंने उनके नाम ब्लेक बोर्ड पर लिखने शुरू कर दिए। 3-4 नाम लिखने के बाद मैं बच्चों से दुबारा पूछती कि ये मैंने किसका नाम लिखा है। सब बच्चे उत्साहित थे, अपना नाम बोर्ड पर लिखा जाना। यह उनके लिए किसी दिलचस्प घटना से कम नहीं था। सारे नाम बोर्ड पर लिख जाने के बाद दौर शुरू हुआ दौहराव का। इसके लिए मैंने ये तरीका निकाला कि किसी बच्चे के नाम के ऊपर मैं हाथ रखूं कि वह खड़ा हो जाएगा, अगले राउण्ड में ताली बजाएगा। इस तरह दौहराव हो जाने के बाद मैंने सब बच्चों को अपनी कॉपी में नाम लिखकर लाने को कहा और सब बच्चों ने बोर्ड पर लिखे लगभग 23 नामों में से अपना नाम पहचान कर कॉपी में लिख लिया।

अगले दिन मैंने इसी को आगे बढ़ाने की सोची। मैंने सब बच्चों के नाम अलग-अलग पेज पर लिखवा दिए। अब वो पेज मैं बच्चों को खुद भी बांट सकती थी। मगर मुझे लगा कि बच्चों को भी शामिल किया जाए। तो मैंने एक-एक करके बच्चों को वो कागज़ दिखाना शुरू

किया। जो बच्चा अपना नाम पहचानता जा रहा था, वो कागज़ लेता जा रहा था। कुछ बच्चों को अपना नाम पहचानने में अभी दिक्कत हो रही थी। तो मैंने उन्हें कॉपी खोलकर फिर मिलाने का सुझाव दिया। लगभग सभी बच्चों ने अपना नाम पहचान लिया। सबकी कागज़ की शीट पर उनका नाम और उसी के नीचे बिंदुवाली लाईन में उनका नाम लिखा था। बच्चों को उन बिंदूवाली लिखावट पर पेंसिल फेरनी थी। उसके बाद उस पर्चे पर चित्र बनाकर नीचे अपना 3 बार नाम लिखना था। बच्चों ने फटाफट चित्र बनाना शुरू कर दिया और फटाफट मेरे पास आने लगे। शुरू में मैंने लगभग सारे बच्चों को वापस भेज दिया। ताकि वो थोड़ा और सोचे कि जो उन्होंने बनाया उसे ओर बेहतर कैसे बनाया जाए। कुछ सुझाव दिए और कुछ उनसे ही पूछा। बच्चों को मैंने क्रेयान के रंग भी दे दिए। पहले तो वो उस पर क्रेयान देखकर उछल पड़े। कुछ बच्चों ने तो मुट्ठी भर के क्रेयान उठा लिये। ये थोड़ा ठीक भी नहीं था, क्योंकि फिर हर बच्चा ज्यादा से ज्यादा क्रेयान लेना चाहता है और ऐसा हो नहीं सकता। इस प्रकार क्रेयान के खोने का डर भी ज्यादा है। तो फिर मुझे बच्चों को समझाना पड़ा कि ये उन्हीं के रंग है, उन्हीं के इस्तेमाल के लिए है और अगर आज वो ऐसा करेंगे तो कल उन्हें और रंग नहीं मिल पाएंगे। एक बार तो सब बच्चों ने क्रेयान वापस रख दिए। पर समझने में थोड़ी देर लगी क्योंकि कुछ बच्चे फिर तीन-चार क्रेयान उठा लेते, उन्हें लगता कि कहीं उन्हें ये क्रेयान इस्तेमाल करने के लिए नहीं मिले तो या फिर उन्हें पता था कि वो क्रेयान इस्तेमाल करेंगे तो वो पहले से उस खास रंग को संभालकर रखना चाहते थे। जो भी हो, उन्हें ये समझने में थोड़ी देर लगी कि सारे रंगवाले क्रेयान उनकी पहुंच में हैं और वो इस्तेमाल कर सकते हैं। सारे बच्चे बेहद आराम से, व्यवस्थित रूप से अपने-अपने काम को अंजाम देने लगे। अब उनके पर्चे मेरे पास पहुंचने लगे तो एक बहुत भंयकर गड़बड़ नज़र आई। उनका नाम पर्चे पर दो बारी लिखा था, एकबार सीधी लिखावट में और दूसरी बार बिंदुवाली लिखावट में। पर दोनों के फोंट्स अलग थे। अर्थात् अगर एक में 'a' लिखा है तो दूसरे में 'ब' लिखा है। और जिस बच्ची को लिखना हो 'मधु' उसने लिखा Madhu।

इससे एक सवाल मेरे ज़हन में आया कि ज़्यादातर किताबों में 'a' होता है, और लगभग सारे शिक्षक शिक्षिकाएं "ब" ही लिखते हैं, तो क्या तब बच्चों को परेशानी न होती होगी।

व्यंग्य

दिशा बताइए

★ हरिशंकर परसाई

समारोह के मुख्य अतिथि नहीं आये थे। वादा करके जो मुख्य अतिथि ऐन मौके पर न आये वह आम आ जानेवाले मुख्य अतिथि से बड़ा होता है, जैसे वह कवि बड़ा होता है जो पेशगी खा जाये और कवि सम्मेलन में न जाये। एक कवि को जानता हूं जो हर शहर का पेशगी खा गये और अब उन्हें कोई नहीं बुलाता। वे कवि–कर्म से ही छुट्टी पा गये हैं।

संयोजक घबड़ाये हुए हॉल में चारों तरफ़ नज़रें डाल रहे थे। उनकी तलाश दुहरी थी– अपने मुख्य अतिथि को वे खोज रहे थे और साथ ही उसके एवज में मुख्य अतिथि बन सकनेवाले को भी ढूंढ़ रहे थे। मुख्य अतिथि की एक बनावट होती है। गांधीजी ने खादी का धोती–कुरता पहनाकर और नेहरू ने जाकिट पहनाकर कई पीढ़ियों के लिए मुख्य अतिथि की बनावट तय कर दी थी। आज़ादी के पहले ये सब दुबले थे, इसलिए मुख्य अतिथि नहीं होते थे। आज़ादी के बाद ये मोटे हो गये, कुछ की तोंद निकल आयी और आदर्श मुख्य अतिथि बन गये। मैं इधर कुछ सालों से देख रहा हूं, मैं फुर्ती से मुख्य अतिथि के रूप में ढल रहा हूं। कुरता–पायजामा, जाकिट मैं पहले से ही पहनता हूं। इधर कपड़ा ज़्यादा लगने लगा है। ज्यों–ज्यों कपड़ा ज़्यादा लगने लगा है, त्यों–त्यों मैं मुख्य अतिथि की गद्दी की तरफ़ सरक रहा हूं।

कोने में रखी फूल–मालाओं की आंखें निकल आयी हैं। वे अपने मुख्य अतिथि की तलाश कर रही है। मैं फूल–मालाओं से आंखे मिला रहा हूं। बड़ा 'फ्रस्ट्रेशन' है उनकी आँखों में, बड़ी निराशा। वादा करके भी प्रेमी कॉफ़ी हाउस में न मिले तो उस मनःस्थिति में सुन्दरी को पटा लेना सहज होता है। मैं देख रहा हूं, मालाएं मुझसे आंखें मिला रही हैं। इधर संयोजकों की नज़र मुझ पर बार–बार पड़ती है और वे आपस में कानाफूसी करते हैं। वे एवज के मुख्य अतिथि के रूप में मुझे तौल रहे हैं। एवज में छोटों का भाग्य चमक जाता है। राम की एवज में खड़ाऊं राम सिहासन पर बैठ गयी थीं।

तीन संयोजक दरवाजे के पास खड़े सलाह कर रहे हैं। वे मेरी तरफ़ बार–बार देखते हैं। मुख्य अतिथि उनके लिए जरूरी है। उन्हें मालाएं पहनानी है। माला पहनाना कुछ लोगों की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी है। वे अगर महीने में एक बार किसी को माला न पहनायें तो स्वास्थ्य ख़राब होने लगता है। हर समाज में माला पहनानेवाले ज़रूरी हैं। अगर ये न हों तो माला पहननेवाली गर्दनें पिचक जायें। मन्त्रिमण्डल से निकलने के बाद एक साहब को माला पहनानेवाले नहीं मिलते थे। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। डॉक्टरों ने उन्हें सलाह दी कि आप फूलमाला का सेवन करें। उन्होंने दस रुपये महीने पर एक माली को रोज़ माला पहनाने के लिए लगा लिया। शाम को वे सजकर कुर्सी पर बैठ जाते। माली आता और माला पहनाता। वे कहते– ''भाइयो और बहनो!' उनकी सेहत अच्छी हो गयी, मगर माली का स्वास्थ्य गिरने लगा। हर एक को माला पहनाना अनुकूल नहीं पड़ता। अपनी–अपनी प्रकृति है। भगवान भूतल पर कोई बड़ा काम करते थे, तो निठल्ले देवता आकाश से फूल बरसाते थे। दोनों का स्वास्थ्य ठीक रहता था। कर्मी के लिए फूल तोड़ने में निठल्ले का अच्छा वक्त कट जाता है।

संयोजक अब निर्णय पर पहुंच रहे हैं। दूर हैं, पर हाव–भाव से पूरा वार्तालाप मैं सुन रहा हूं। एक कहता है परसाईजी ठीक रहेंगे। दूसरे का चेहरा खिन्न होता है। कहता है– नहीं यार, वह नहीं जमेंगे। तब तीसरा मेरे समर्थन में कहता है– कोई और यहां है नहीं और टाइम बहुत हो गया। बहुमत मेरे पक्ष में हो गया है। मैं जाकिट के बटन लगा लेता हूं। बालों पर हाथ फेरता हूं। दुरुस्त है। रूमाल चेहरे पर फेरता हूं, जिससे उचक्कापन साफ़ हो जाये और नीचे दबी गम्भीरता ऊपर आ जाये। अब वे आते ही है। मालाएं एकटक मेरी तरफ़ देख रही हैं। उन्हें गर्दन मिल गयी।

मैं मंच पर पहुंच गया। एवज में मुख्य अतिथि मैं पहले भी एक बार बन चुका था। तब संस्था के मन्त्री ने श्रोताओं से कहा था– हमें बड़ा दुख है कि अमुकजी नहीं आये, इसलिए परसाईजी को मुख्य अतिथि बनाना पड़ रहा है। आशा है, आप लोग हमें क्षमा करेंगे। यह सुनकर भी मैं बेशर्मी लादकर बैठा रहा।

मालाएं मुझे पहनायी जाने लगी। मुझे इसका अभ्यास कम है। गर्दन भी अभी माला के अनुकूल नहीं है। कई गर्दनें मैंने ऐसी देखी हैं जैसे वे माला पहनने के लिए ही बनी हो। गर्दन और माला बिल्कुल 'मेड फार ईच अदर' रहती है। माला लपककर गले में फिट हो जाती है। फूल की मार विकट होती है। कई गर्दनें, जो संघर्ष में कटने के लिए पुष्ट की गयी थीं, माला पहनकर लचीली हो गयी है। एक क्रान्तिकारी इधर रहते हैं जिनकी कभी तनी हुई गर्दन थी। मगर उन्हें माला पहनने की लत लग गयी। अब उनकी गर्दन छूने से लगता है, भीतर पानी भरा है। पहले जन–आन्दोलन में मुख्य अतिथि होते थे, अब मीना बाजार में मुख्य अतिथि होते हैं।

मैंने दस–बारह मालाएं पहनी और मेरी सारी उद्धतता चली गयी। फूल की मार बुरी होती है। शेर को अगर किसी तरह एक फूलमाला पहना दो तो गोली चलाने की ज़रूरत नहीं है। वह फौरन हाथ जोड़कर कहेगा– मेरे योग्य कोई और सेवा!

मन्त्री माइक पर कहता है– अब परसाईजी हमें दिशा–निर्देश करेंगे। यह तरुणों की संस्था है। मैं इन्हें क्या दिशा बताऊं? हर दिशा में यहां दिशा–शूल है। कभी सोचा था कि तकनीकी शिक्षा की दिशा में जाना चाहिए। मगर हज़ारों बेकार इन्जीनियर हैं। उस दिशा में भी दिशा–शूल निकला।

क्या दिशा बताऊं? ये तरुण मुझ–जैसे के गले में यहां माला पहना रहे हैं और इन्हीं की उम्र के बंगाल के तरुण मुझ–जैसे की गर्दन काट रहे हैं। कौन–सी सही दिशा है? माला पहनाने की, या गला काटने की?

किसी को दिशा नहीं मालूम। दिशा पाने के लिए यहां की राजनैतिक पार्टियां एक अधिवेशन उत्तर में श्रीनगर में करती हैं, दूसरा दक्षिण में त्रिवेन्द्रम में, तीसरा पूर्व में पटना में और चौथा पश्चिम में जोधपुर में– मगर चारों तरफ़ घूमकर भी जहां की तहां रहती हैं। बायें जाते–जाते लौटकर दायें चलने लगती हैं।

दिशा मुझे मालूम ही नहीं है। कई साल पहले मैं नये लेखक के रूप में दिशा खोज रहा था। तभी दूसरों ने कहा– बेवकूफ़, जो दिशा पा लेता है, वह घटिया लेखक होता है। सही लेखक दिशाहीन होता है। ऊंचा लेखक वह जो नहीं जानता कि कहां जाना है, पर चला जा रहा है।

दिशा मैंने छोड़ दी। देख रहा हूं, लेखक चौराहे से चारों ओर सड़कों पर जाते हैं। मगर दूर नहीं जाते। लौट–लौटकर चौराहे पर आ जाते हैं और इन्तज़ार करते हैं कि उन्हें उठा ले जानेवाली कार कब आती है और वे बैठकर बाक़ी लेखकों को 'टा टा' बोलकर चले जाते हैं। सुना है, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली में तो हवाई जहाज़ से उड़ा ले जाते हैं। मैं दिशा की खोज में जूते घिसता रहा और चौराहे का ध्यान नहीं रखा। देर से चौराहे पर लौटता हूं, देखता हूं, साथ के लोगों को उठा लिया गया है।

नहीं, दिशा मैं नहीं बता सकता। फूल–मालाओं से लाद दो तब भी नहीं। दिशा आज सिर्फ़ अन्धा बता सकता है। अन्धे दिशा बता भी रहे हैं। सवेरे युवकों को दिशा बतायेंगे, शाम को वृद्धों को। कल डॉक्टरों को दिशा बतायेंगे, तो परसों पॉकिटमारों को। अन्धा दिशा–भेद नहीं कर सकता, इसलिए सही दिशा दिखा सकता है।

मैंने श्रोताओं से कहा– मैं दिशा नहीं जानता। फिर मैं बहुत दयालु और शरीफ़ मुख्य अतिथि हूं। आपको बिल्कुल तकलीफ़ नहीं दूंगा। मैं भाषण नहीं दूंगा।

श्रोताओं ने लम्बा भाषण सुनने के लिए सारी शक्ति बटोर ली थी। सांप दिखे तो आदमी उससे बचने के लिए स्नायुओं को तीव्र कर लेता है, मांसपेशियां मज़बूत हो जाती हैं। मगर फिर यह समझ में आया कि रस्सी है, तो राहत तो मिलती है, पर साथ ही एक तरह की शिथिलता और गिरावट भी आती है। मेरे श्रोताओं का यही हाल था। जिसे सांप समझे थे, वह रस्सी निकला।

बाद में संयोजकों ने कहा– आपने भाषण क्यों नहीं दिया? मैंने कहा– वे श्रोता मेरे नहीं थे। तुम्हारे उन मुख्य अतिथि के थे। मैं दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता।

★ जाने–माने व्यंग्यकार– यह व्यंग्य परसाई रचनावली खंड–3 से साभार।

श्रद्धांजलि

हिन्दी में पहले विज्ञान लेखक गुणाकर मुले

गुणाकर मुले नहीं रहे। इस ख़बर ने हम सबको चौंका दिया है। हिंदी में विज्ञान लेखन करने वाले गुणाकर मुले का निधन 13 आक्टोबर 2009 को हो गया।

1960 से गुणाकरजी ने विज्ञान लेखन शुरू किया और तय किया कि इसे अपनी रोजी–रोटी का ज़रिया बनाएंगे। उनकी मातृभाषा मराठी थी मगर उन्होंने हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों में ग़ज़ब का लेखन किया। गुणाकरजी का जन्म 3 जनवरी 1935 को महाराष्ट्र के अमरावती ज़िले के सिंदी–बुजरूक में हुआ था।

उनके लेखन में पत्र–पत्रिकाओं में सैकड़ों हिंदी और अंग्रेज़ी आलेखों के अलावा 35 शोधपरक पुस्तकें भी शामिल हैं। इनमें सौर मंडल, भारतीय विज्ञान की कहानी, अंतरिक्ष यात्रा, पास्कल, भारतीय अंक पद्धति की कहानी, भारतीय लिपियों की कहानी, आर्यभट, आदि है। इनके अलावा उन्होंने एक दर्जन किताबों का हिंदी अनुवाद भी किया।

जहां गुणाकरजी ने भारतीय ज्योतिष का विस्तृत अध्ययन करके आकाश दर्शन और नक्षत्र लोक जैसे ग्रंथ लिखे, वहीं आधुनिक विज्ञान की तहों में जाकर कम्प्यूटर पर हिंदी भाषा में पहली प्रामाणिक पुस्तक 'क्या है कम्प्यूटर' लिखी। 1989 में गुणाकरजी को केन्द्रीय हिंदी संस्थान द्वारा आत्माराम पुरस्कार और राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिक संचार परिषद् द्वारा विज्ञान लोकप्रियकरण के लिए पुरस्कृत किया गया।

इस विलक्षण अध्येता और कर्मठ विज्ञान लेखक और चिंतक को श्रद्धांजलि।

लुखरी

केदारनाथ सिंह

यह शुरू के दिनों की बात है
जब मैं नया–नया बना था अध्यापक
और एक दिन ऐसा हुआ कि बिना कुछ देखे
विश्वास से दमकता हुआ चला गया क्लास में
पर जैसे ही खोली किताब
तो पहले ही पन्ने पर आ गई 'लुखरी'
धत् तेरे की–यह क्या बला है!
मैं मन ही मन बुदबुदाया

'नहीं जानता'–यह कह सकता था
पर यह अध्यापक की हार थी
यानी अध्यापक–संहिता का सरासर उल्लंघन
सो, मैंने कुछ कहा
जिसे छात्रों ने ध्यान से सुना
और यदि भूलता नहीं तो नोट भी किया कॉपी में

अब इतने बरस बाद
अच्छी तरह जानता हूं
कि उस दिन जो कहा था क्लास में
वह शतप्रतिशत ग़लत था
और देखिए न, मेरी ईमानदारी
कि इस समय जब उसे स्वीकार कर रहा हूं
तो वह भी एक कविता में
जो जितनी सच है
उतनी ही झूठ

शब्दकोश कहता है
'लुखरी' बोली में लोमड़ी को कहते हैं
वही जिसका बचपन की कहानियों में
उस समय होता था ब्याह
जब झमाझम बारिश में भी
खिली हो धूप!

लोमड़ियों के द्वारा रोमांस के लिए
समय का यह चुनाव
एक चमत्कार की तरह लगता था मुझे!

पर अब इसका क्या करूं
कि मेरे भीतर का वह पहला अध्यापक
आज भी मानने को तैयार नहीं
कि लुखरी हो सकती है उससे कुछ अलग
जो उस दिन उसने कहा था क्लास में
जब वह एकदम ताज़ा–टटका अध्यापक था
और ऐसा तेजस्वी कि एक लुखरी काफी थी
सारी ज्ञान–राशि का
हिलाकर रख देने के लिए!

तालस्ताय और साइकिल से साभार प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन